ISSN 0975-5217
वर्ष 2013
अंक 7

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2013 अंक 7)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2013, अंक : 7

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य
इस अंक का मूल्य : 200/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 400/- रुपये / त्रैवार्षिक 1200/- रुपये

पंचवार्षिक 2000/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 450/- रुपये / त्रैवार्षिक 1400/- रुपये

पंचवार्षिक 2300/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक
विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स
1/10753, गली नं. 3 सुभाष पार्क
नवीन शाहदरा, दिल्ली - 110032

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्प नारायण

विशिष्ट प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

प्रो. पं. चितरंजन ज्योतिषी 'चितरंग'
पूर्व कुलपति
राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)
Prof. Pt. Chittaranjan Jyotishi 'Chittarang'
Ex. Vice-Chancellor
RAJA MANSINGH TOMAR MUSIC & ARTS UNIVERSITY, GWALIOR (M.P.)

पूर्व विभागाध्यक्ष गायन (संगीत) एवं पूर्व संकाय प्रमुख
संगीत मंच कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी (उ.प्र.) भारत
Ex. Head Deptt. of vocal Music &
Ex. Dean Faculty of Performing Art
Banaras Hindu University, Varanasi (U.P.) India

Ref. No.....

Date.....

शुभ कामना संदेश

प्रति,

दिनांक 17.07.2013

डॉ. पुष्पम नारायण जी,

आपके पत्र (पत्रांक 111/13, दिनांक 9.7.2013) द्वारा ज्ञात कर अति प्रसन्नता हुई कि स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार) ने अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका प्रकाशन हेतु मिथिलांचल संगीत परिषद् का गठन विभागीय स्तर पर किया है तथा शोध-पत्रिका का सातवाँ अंक प्रकाशित किया जा रहा है।

संगीत संबंधित उक्त शोध-पत्रिका के सातवें अंक की सफलता हेतु मेरी शुभकामनाएँ एवं बहुत-बहुत बधाई।

मुझे पूर्ण आशा है कि संगीत विषय से संबंधित विद्वानों एवं शोधार्थियों द्वारा प्रस्तुत लेखों से संगीत जगत् को अवश्य ही लाभ पहुँचेगा और नव-शोधकर्ताओं एवं साधकों को पत्रिका से नवीन दिशाओं में शोध करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

भवदीय,

प्रति,

डॉ. पुष्पम नारायण
एसोसियेट प्रोफेसर एवं संपादिका
भैरवी संगीत शोध पत्रिका
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा (बिहार).

निवास : बी. 24/14 ए-1 'स्वरांगन'
कश्मीरीगंज (राम मंदिर के पीछे)
वाराणसी -221010 (उ.प्र.) भारत
Ph. : 0542-2313120
Mob. : 8576027413
Address : B. 24/14 A-1 'Swarngan'
Kashmiri Ganj (Behind Ram Mandir)
Varanasi-221010 (U. P.) India

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा - 846004 (बिहार)

डॉ० समरेन्द्र प्रताप सिंह
कुलपति

दूरभाष और फैक्स 06272- { 222463 (O) 222598 (R)
मो0 : 9431219347
ई-मेल- vclnmudar@gmail.com
lnmu123@gmail.com

पत्रांक ..... दिनांक .....

शुभकामना संदेश

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार) अपने अर्द्धवार्षिक संगीत शोध पत्रिका **भैरवी** के सातवें अंक का प्रकाशन करने जा रहा है।

आशा है कि शोध पत्रिका **भैरवी** के प्रकाशन से मिथिला एवं बिहार की संगीत–विरासत की झलक देखने को मिलेगी। साथ ही स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा के शैक्षिक किया–कलापों की अनुभूति इस पत्रिका का उदेश्य होगी।

इस पत्रिका के माध्यम से संगीत से जुड़े राष्ट्रीय स्तर के विद्वानों एवं शोध कर रहे छात्रों का आलेख प्रकाशित करना एक सराहनीय कदम है। इससे संगीत के क्षेत्र में हो रहे नये–नये शोध की जानकारी भी छात्रों तक पहुँचेगी।

स्मारिका प्रकाशन की सफलता के लिए हार्दिक शुभकामनों के साथ।

10.6.13

(समरेन्द्र प्रताप सिंह)
कुलपति

प्रति,

डॉ. पुष्पम नारायण
एसोएियेट प्रोफेसर एवं संपादिका
भैरवी संगीत शोध पत्रिका
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ल०ना०मि०वि०वि०, दरभंगा (बिहार).

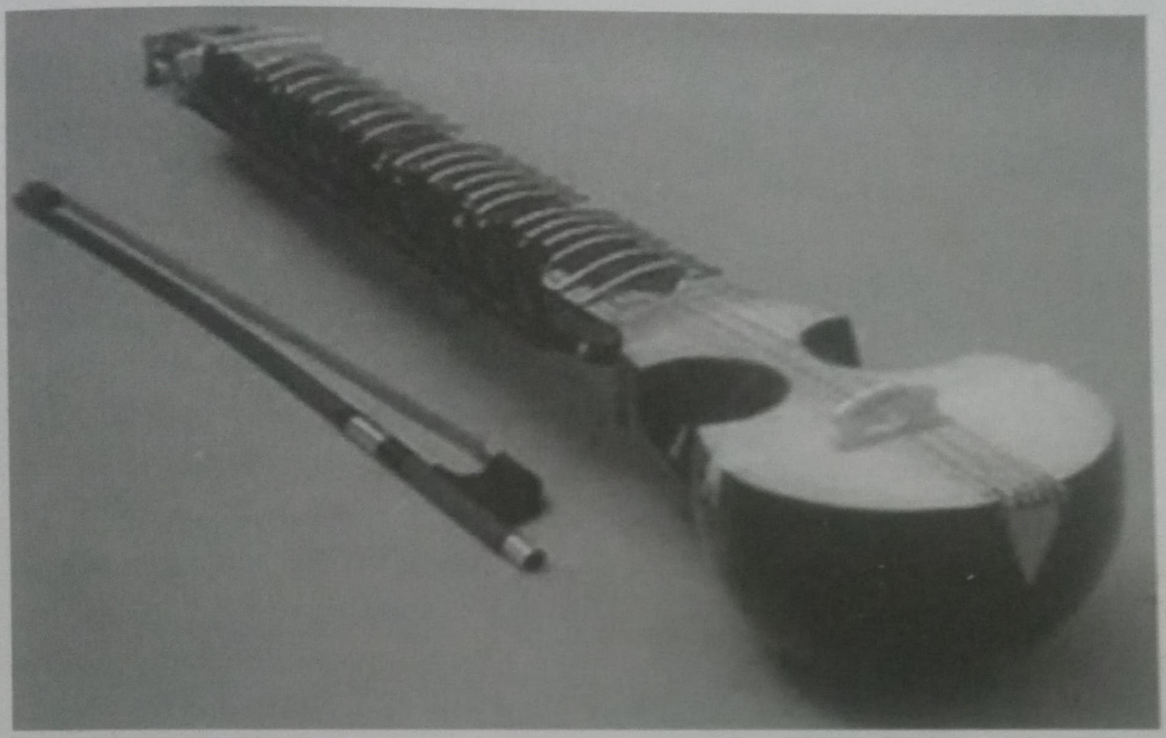

इसराज

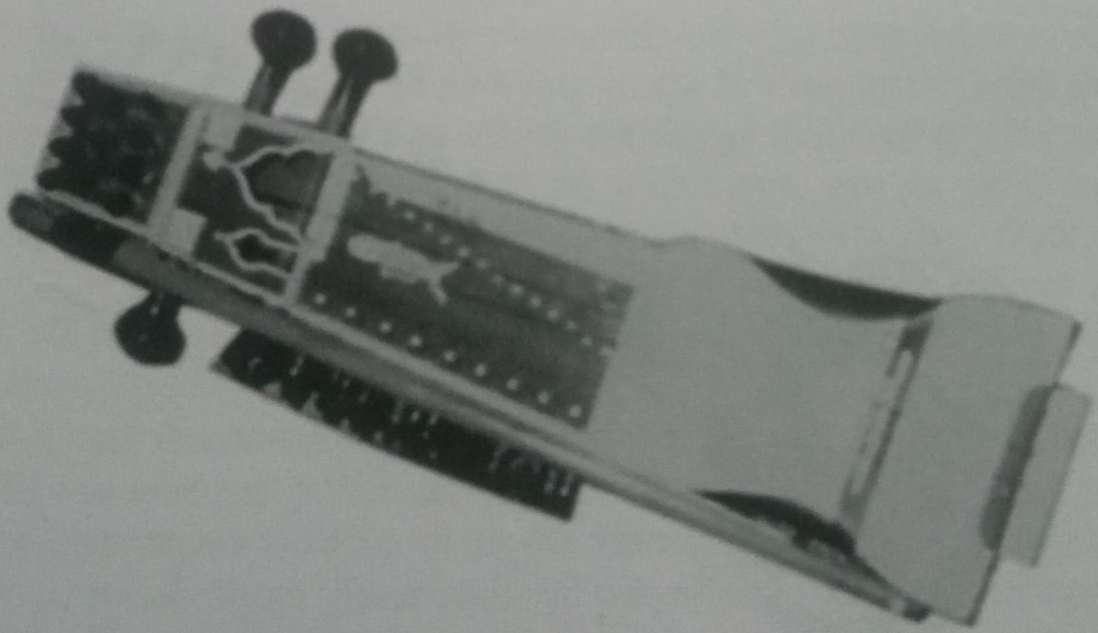

सारंगी

तानपूरा

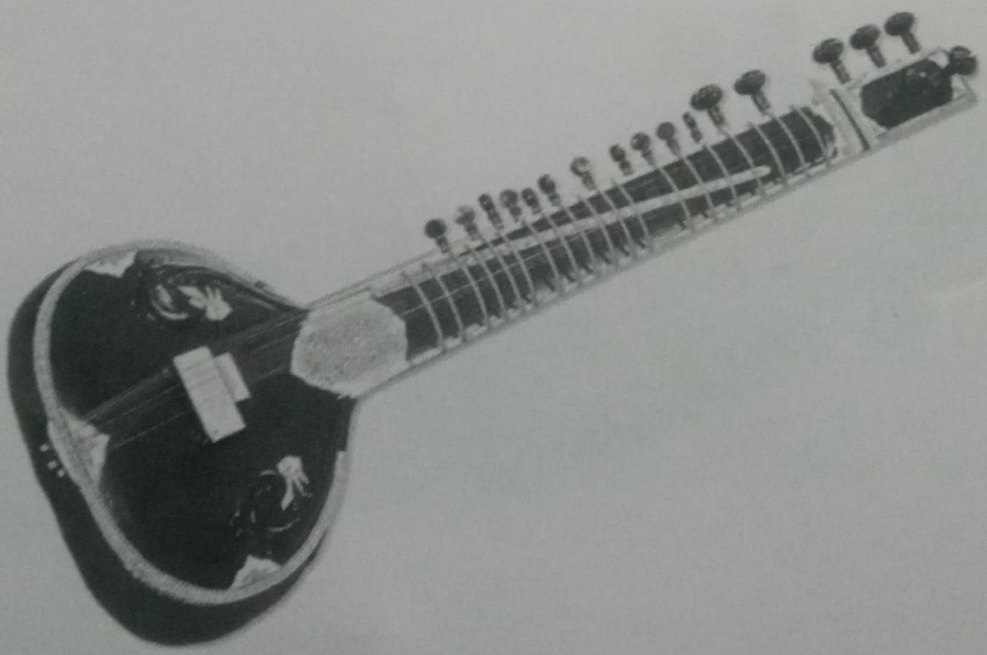

सितार

संपादक की कलम से ...

मानव ने अस्तित्व में आने के बाद से ही अपने आस पास के वातावरण को समझते हुए अपने आपको उसके अनुरूप ढालने का प्रयास किया। प्रकृति से सीधे संपर्क के कारण जल, वायु, पशु, पक्षियों, पेड़-पौधों आदि का अवलोकन करते हुए उनकी विभिन्न क्रीड़ाओं और ध्वनियों का रसास्वादन करने लगा। विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ जो उसे सुनने में कर्णप्रिय और अधिक आनंददायक लगीं उन्हें स्वयं भी दुहराने का प्रयास करने लगा। धीरे-धीरे मानव संगीत का न केवल रसिक बल्कि सृजनकर्ता भी बन गया। मनुष्य अपने सुख दुख हर्ष विषाद् आदि भावों को गायन, वादन, नृत्य तथा नाटक आदि के माध्यमों से व्यक्त करता आ रहा है। प्रारंभ से ही संगीत मनोरंजन का साधन मात्र ही नहीं था बल्कि ईश्वर की आराधना का सशक्त माध्यम भी रहा है। संगीत हमें ध्यान केन्द्रित करने की प्रेरणा और अभ्यास कराने में सहायक रहा है। यह मानव के अंदर दैवी अनुभूति का संचार करने के साथ साथ एक अच्छे सरल, सहज, मृदुभाषी और सहृदय प्राणी बनाने में भी सहायक होता है जो उसमें संगीत सीखने की प्रक्रिया के साथ स्वतः ही विकसित होती जाती है। यही कारण है कि प्राचीन समय में बच्चों को बचपन से ही संगीत सुनने के लिए प्रेरित किया जाता था। इस प्रकार संगीत के प्रति उनकी रूझान विकसित करते हुए क्रमशः उसे दुहराने के लिए भी प्रोत्साहित करना, सिखाने की ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें संगीत में उनकी भागीदारी भी बढ़ती थी और उनकी क्षमता को आंकने का मौका भी मिल जाता था। संगीत शिक्षा के माध्यम से उनके अंदर प्रेम, भक्ति, आपसी सहयोग, विनम्रता, संयम, धैर्य आदि गुणों का भी विकास होता था।

संगीत एक ऐसी अमूर्त कला है जिसे सम्बद्ध कलाकार अपनी सतत् साधना से जीवंत करने का प्रयास करते हैं। कोई भी कला साधना के बिना पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं होती है। साधना भारतीय शास्त्रीय संगीत की वह महत्वपूर्ण प्रभावी पद्धति है जो विभिन्न परिवर्तनों के बावजूद गुरू शिष्य परंपरा के सशक्त स्वरूप में आज भी सुरक्षित बनी हुई है। भारतीय संगीत की लंबी परंपरा में गायन, वादन और नृत्य के क्षेत्र में अनेक कलाकारों ने अपनी अपनी कठिन साधना और उपासना द्वारा उसके विभिन्न स्वरूपों, शैलियों और पद्धतियों आदि को अपनी सोच समझ और सतत् प्रयासों से निरंतर परिमार्जित करने का प्रयास करते आये हैं। अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के रहते संगीत के क्षेत्र में वे अपनी अपनी विशिष्ट शैलियां स्थापित करने में भी सफल हुए हैं।

भारत में मुगलों के आगमन के बाद संगीत की स्थिति में काफी बदलाव आया। मुगल शासकों ने भारतीय संगीत का आनंद लेना शुरू किया और उससे मिलनेवाले आनंद और शांति के कारण उसे अपने मनोरंजन का साधन बनाया। उन्होंने चुन चुन कर श्रेष्ठ कलाकारों को खोजकर आमंत्रित किया। उन्हें समुचित सम्मान दिया और विभिन्न सुविधायें उपलब्ध करा उन्हें अपने स्वतः के मनोरंजन और राजदरबारों में आयोजित संगीत सभाओं में आमंत्रित किया जाने लगा।

कलाकार और संगीतज्ञ राजदरबारों में अपनी अपनी कला का प्रदर्शन तो करते ही थे, समय समय पर आयोजित विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं में भी संगीत में निरंतर नये नये प्रयोग होते थे। कलाकारों का प्रयास अपने अपने शासकों को प्रभावित और प्रसन्न करना भी होता था।

मुगल काल में हुए परिवर्तनों का प्रभाव यह हुआ कि प्रचलित संगीत शिक्षा वर्ग विशेष के संदर्भ में उनकी अभिरूचियों और आवश्यकताओं को पूरा करने पर केन्द्रित हो जाने के कारण वर्ग विशेष तक सीमित होकर ही रह गई। मुगल शासन के समाप्त होते ही परिस्थितियां फिर बदलीं और संगीत को मिले संरक्षण और प्रतिष्ठा में कमी आना शुरू हो गई। इस संक्रमणकाल में शासक वर्ग संगीत और कलाकारों के प्रति धीरे-धीरे उदासीन होने लगे, आर्थिक कठिनाईयों से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण संगीत कला कुछ ऐसे व्यवसायियों के हाथों में आई गई जिन्होंने कला के स्थान पर आर्थिक लाभ को अधिक महत्व दिया। संगीत विशुद्ध मनोरंजन का माध्यम बन कर रह गया जिसका उद्देश्य पूर्णतः व्यावसायिक रूप से वर्ग विशेष की रूचियों के अनुरूप प्रस्तुतियों तक सीमित होकर ही रह गया।

बदले संदर्भों के आम सुधी जनों के संगीत से बिलग हो जाने और संगीत के प्रति उनके बदले हुए दृष्टिकोण के फलस्वरूप संगीत का भविष्य अनिश्चित और अंधकारमय नजर आने लगा। उसी समय पंडित विष्णु नारायण भातखंडे और पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जैसी महान विभूतियां अवतरित हुई जिन्होंने कठिन परिश्रम और सतत् प्रयासों से संगीत का उद्धार किया। संगीत को व्यक्तिवादी, दरबारी, संकुचित स्वरूप वाले दायरे से बाहर निकाल आमलोगों में पुनः स्थापित कराने में सफल हुए। इस भागीरथी प्रयास में दोनों महापुरूषों ने देश के कोने कोने का भ्रमण कर बड़े बड़े कलाकारों और विद्वानों से संपर्क कर चर्चा प्रारंभ की और संवादहीनता की स्थिति को समाप्त किया। संगीत संबंधी महत्वपूर्ण तथ्यों को संकलित कर ग्रंथों की रचना कर संगीत के विभिन्न पक्षों को जन जन तक पहुंचाने में सफल भी हुए। विभिन्न कलाकारों की बंदिशों को सुना, संकलित किया और उनकी स्वरलिपियां तैयार कर आम लोगों में संगीत सीखने को सुलभ बनाया। अपने संगीत उत्थान के प्रयासों में विभिन्न कलाकारों विद्वानों का भी सहयोग लिया और किये जा रहे प्रयासों में उनकी सक्रिय भागीदारी को भी सुनिश्चित किया। देश के विभिन्न शहरों में संगीत कार्यक्रमों और संगीत सम्मेलनों को आयोजित कर आमलोगों में संगीत के प्रति रूचि और महत्व को पुनः स्थापित किया।

समाज में संगीत के प्रति रूचि रखनेवालों और संगीत सीखने में रूचि वालों के सहयोग से स्थापित की गई संगीत शिक्षण संस्थाओं में सुविधाओं की व्यवस्था कराने में सफल रहे। इस महान कार्य में देश के स्थापित मान्य बड़े बड़े कलाकारों और विद्वानों ने भी उन्हें सक्रिय सहयोग दिया। धीरे-धीरे इन प्रयासों को एक बड़ी सफलता तब मिली जब स्कूलों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में भी संगीत को एक विषय के रूप में शामिल किया जाने लगा। इस प्रकार संगीत शिक्षा का एक नया व्यापक रूप सामने आया जिसमें संगीत की खोयी प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने में जन भागीदारी को सुनिश्चित किया।

वास्तविकता यह है कि आज के अधिकांश संगीत सीखने वाले विद्यार्थी संगीत शिक्षण संस्थाओं से ही जुड़े हैं। हम सभी का यह दायित्व हो जाता है कि ऐसी स्थिति में गंभीर, गहन, सकारात्मक विचार मंथन करते हुए संगीत शिक्षा में आ रही व्यावहारिक कठिनाईयों पर विचार करें उनके अध्ययन, विश्लेषण हेतु स्तरीय पठन-पाठन की सामग्री उपलब्ध कराएं साथ ही शिक्षण संस्थानों में ही प्रायोगिक संगीत की समुचित व्यवस्था को समुन्नत करें।

उपर्युक्त भावना को समाहित कर भैरवी संगीत शोध-पत्रिका संगीत के विविध रंग लेकर अपने सातवें अंक के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत है। आपके सुझाव एवं सहयोग की सदा ही अपेक्षा रहती है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि संगीत जगत से जुड़े सभी सुधि पाठकों के लिए यह अंक प्रेरणादायक होगी।

—डॉ॰ पुष्पम नारायण
संपादक
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		9
1.	वैदिक काल में संगीत का स्वरूप	*डॉ. प्रेम किशोर मिश्र*	13
2.	वैदिक वाङ्मय में व्यक्त सांगीतिक चेतना	*डॉ. सुधीर कुमार झा*	16
3.	तबला वादन में पारम्परिक बन्दिशें (कायदे के विशिष्ट सन्दर्भ में)	*डॉ. नीलू शर्मा*	18
4.	राग का भावों से सम्बन्ध	*डॉ. अनिता रानी*	23
5.	पंजाब के लोकगीतों में सांस्कृतिक चेतना	*डॉ. सोनदीप मोंगा*	26
6.	दक्षिण पूर्वी देशों में रामायण	*सुश्री पी. मेदिनी होम्बल*	31
7.	एक या दो स्वरों में राग का अनन्त	*डॉ संजय कुमार सिंह*	37
8.	पंजाबी लोक संगीत की वर्तमान प्रासंगिकता	*कुलविन्दर सिंह*	39
9.	तन्त्र वाद्य : उत्पत्ति की अवधारणा एवं महत्व	*डॉ. (श्रीमती) कृष्णा चक्रवर्ती*	43
10.	भारतीय संस्कृति में संगीत के शास्त्रीय व लोकपक्ष का कलात्मक विवेचन	*हरिओम हरि*	47
11.	गमक	*डॉ. संगीता सिंह*	49
12.	संगीत शिक्षण की समस्याएँ एवं समाधान	*शर्मिष्ठा*	54
13.	पाटलिपुत्र की सांस्कृतिक गरिमा में ललित कलाओं का योगदान	*डॉ. सुचित्रा कुमारी मंजुल*	56
14.	दक्षिणात्य सप्त स्वर व उनके सोलह नामों की उपयोगिता एवं महत्ता	*श्वेता केशरी*	59
15.	वेदों में वाद्यों की उपयोगिता	*ज्योत्सना सागर*	61
16.	ध्रुपद में लय, ताल का महत्व व सैद्धान्तिक विचार	*प्रतिभा सिंह*	63
17.	हिन्दुस्तानी संगीत की वैज्ञानिकता और परम्परा	*प्रिया पाण्डेय*	66
18.	परम्परागत लोकनाट्य	*प्रीती सोनी*	69
19.	नाद, बिन्दु और कला के अर्थ में संगीत के दार्शनिक पहलू	*रागिनी सिंह*	72
20.	भारतीय संगीत का अन्य देशों से सम्बन्ध	*निधि श्रीवास्तव*	74
21.	भारतीय चलचित्र में संगीत की शुरूआत	*सुनील कुमार गुप्ता*	77
22.	संगीत एवं व्यवसाय का समन्वय तथा उसके सम्भावित कार्य क्षेत्र	*नेहा श्रीवास्तव*	81
23.	कथक नृत्य के साथ तबले की संगति	*संदीप राव केवले'*	85
24.	थाट और उसका परिवर्तित स्वरूप	*रोली पाण्डेय*	88
25.	अध्यात्म और भारतीय संगीत का अन्योन्याश्रित संबंध	*डा. अमिता पांडे*	90
26.	घराना व घरानों की तालीम	*रूपाली जैसवार*	93

27. अप्रचलित (क्लिष्ट) तालों का प्रयोग : समस्या एवं समाधान — *प्रियंका पाण्डेय* 96
28. "कव्वाली : एक गायन परम्परा" — *आकांक्षा गुप्ता* 99
29. राग और रूप — *अंकिता गोस्वामी* 102
30. पुष्टिमार्गीय भक्ति संगीत : एक अध्ययन — *अंकित पारिख* 104
31. सितार बाज पर अन्य वाद्यों की वादन शैली का प्रभाव — *अंजली शर्मा* 106
32. संगीत की उच्च शिक्षा व शिक्षण प्रणाली के बदलते आयाम — *अंकिता मुखर्जी* 108
33. बनारस घराने की सुप्रसिद्ध गायिकाऐं : गिरिजा देवी एवं सिद्धेश्वरी देवी — *आरती वाही* 111
34. भारतीय संगीत के तन्त्री वाद्यों की अवतारणा — *गरिमा गुप्ता* 114
35. कल्पना के लंब का, अवलंब है : संगीत — *दीपक त्रिपाठी* 117
36. शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता पर ग्रहण — *रितु सिंह* 119
37. लोक संस्कृति एवं वाद्य (उत्तराचंल के विशेष संदर्भ में) — *डॉ. शोभित कुमार नाहर* 121
38. संगीत और रस — *डॉ. अश्विनी कुमार सिंह* 124
39. प्रागैतिहासिक काल के संगीत में नारी का योगदान — डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे 127
40. झरनी : मुहर्रम का प्रमुख गीत — डॉ. पुष्पम नारायण 130
41. Religious Expressions in Mithila Painting — *Dr. Kamal Dev* 133
42. Taal and Tabla - A Perspective Analysis — *Dr. Shyam Mohan* 137
43. The Spiritual & Philosophical aspects of Carnatik Music with special reference to Purandara dasar & Tyagaraja Swami — *Dr.K.Sashi Kumar* 139
44. Origin and Development of Folk Songs in Nepal — *Kumar Neupane 'Sargam'* 142
45. Creation of New Ragas from Traditional Ragas & Murchhna System — *Pandit Ishwarchandra Kedarnath* 147

वैदिक काल में संगीत का स्वरूप

डॉ. प्रेम किशोर मिश्र

संगीत की यात्रा वैदिक काल तक आते-आते न केवल पूर्णतया परिष्कृत हो गयी वरन् वैदिक कालीन सभ्यता ने तो संगीत को अपनी दैनिक जीवनचर्या के रूप में स्वीकार कर लिया। सृष्टि का कण-कण एक विशेष लय में निबद्ध है यह रहस्य वैदिक काल तक आते-आते पूर्णतः खुल चुका था।

भारत की अतीत एवं गौरवमयी संस्कृति का प्रथम ऐतिहासिक दर्शन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है भारतीय संस्कृति का यह सहस्र दल अनेक शताब्दियों के बाद विकसित हुआ है।

भारत में आर्यो के आगमन से वैदिक युग का प्रारम्भ माना जाता है। वास्तव में आर्य लोग भारत के मूल निवासी थे। इनका संगीत ज्ञान अत्यन्त उत्कृष्ट था। इस काल में ब्राह्मण ही अन्य तीनों वर्गों को विद्या व संगीत का ज्ञान प्राप्त कराते थे। इस काल में प्रातः सायं काल गायन-वादन के माध्यम से देवताओं की अराधना की जाती थी। यद्यपि सामान्य लोग भी शास्त्रीय संगीत से परिचित थे। इस युग में हमें गायक वादक एवं नर्तक तीनों प्रकार के कलाकार मिलते हैं। इस युग में वीणा का प्रयोग होता है। संगीतज्ञों को समाज में उच्च दृष्टि से देखा जाता था। स्त्रियाँ भी संगीत के कार्यक्रमों में निःसंकोच रूप से भाग लिया करती थी।

संगीतमय अमृतवाणी में स्वरों के साथ प्रारम्भ दैनिक जीवनचर्या के प्रत्येक पग पर सुरीले मंत्रोच्चार की परम्परा जैसे-जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप को रसमय कर देती थी और दैनिक जीवनचर्या का विराम बिन्दु भी संध्या वंदन था। संध्या वंदन के समय जब घरों में "ओं शन्नो देवीरभिष्टाये आपो भवन्तु पीतये, शयोरभि स्रवन्तु नः, ओं वाक्-वाक् ओं प्राणः-प्राणः। ओं चक्षुश्चक्षुः, ओं श्रोत्रं श्रोत्रम। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः। ओं शिरः। बाहुभ्यां यशोबलम्। ओं करतल कर प्रष्ठे" स्वर गूंजते थे तो प्रत्येक घर मंदिर बन जाता था।

इस काल में समन नामक एक मेला हुआ करता था। वैदिक युग में सार्वजनिक संगीत आयोजन और प्रतियोगिताओं का एक मनोरंजक रूप समन के नाम से देखने में आता है। यह समन आगे चलकर समज्जा के नाम से प्रस्फुटित हुआ।

समन की यह प्रथा लगभग प्रथम शताब्दी तक चली इसी समन के विषय में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते है- जिसमें जनसमुदाय इकट्ठा हो वह उत्सव समन कहलाता था। समन का प्रचलन महाभारत काल में भी था। कौटिल्य ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र में उत्सव समन और यात्रा का वर्णन किया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में संगीत उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित था।

वैदिक काल में ढोल, दुन्दुभि, झाँझ, वाण, नाड़ी वेणु, कक्करि, गर्गर गोधा, पिंग, दैवी एवं काष्ठवीणा, शततन्त्री वीणा जैसे वाद्य प्रचलित हो चुके थे।

ओऽम शब्द की संगीतमय सार्थकता वैदिककाल की जीवनचर्या के अंग-अंग में व्याप्त हो चुकी थी। सामगान का प्रारम्भ और अवसान ही ओम् स्वर से किया जाता था। वैदिक युग चार वेदों 1. ऋग्वेद, 2. यजुर्वेद, 3. अथर्ववेद, 4. सामवेद विभिन्न अंगों का विस्तार हुआ। सर्वप्रथम प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद था। इन ग्रन्थों में सामवेद पूर्णतः संगीतमय ग्रन्थ था।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

ऋग्वेद में संगीत

इस काल में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों दृष्टियों का पर्याप्त प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। गीत के लिए गीर, गातु, गायन तथा साम शब्दों का प्रयोग होता है। ऋग्वेद की रचनाएँ स्वरावलियों में निबद्ध होने के कारण 'स्तोत्र' कहलाती थी। गीत-प्रबन्धों को गाथा कहा जाता था, जो एक विशिष्ट तथा परम्परागत गीत प्रकार है और इन गाथाओं का गायन धार्मिक तथा लौकिक समारोहों पर किया जाता था। इनके गायक "गायत्रिनू" कहलाते थे। 'गाथा के लिए 'साम' नाम भी आता है। इन सामों का गायन कुछ विशिष्ट छन्दों के साथ किया जाता था। अन्त्येष्टि के समय पर साम का गायन होता था।

ऋग्वेद काल में गायन के साथ ही वाद्य का भी पूर्ण विकास मिलता है। तीनों ही प्रकार के वाद्य अवनद्ध तन्तु और सुषिर वाद्य, जिसे 'नाण्ठी' कहा जाता था, उनका आविष्कार हो चुका था। अवनद्ध वाद्यों में दुंदुभि, भूमि दुंदुभि, वानस्पति, तंत्र वाद्यों में कांड, वीणा, कर्करी वीणा, वारण्य वीणा और सुषिर वाद्यों में तूणव, नादि और वाकुर आदि का उल्लेख आता है। प्रातःकाल के समय मंगल वाद्य के रूप में वीणादि वाद्यों का वादन किया जाता था।

यजुर्वेद में संगीत

यजुर्वेद उन मन्त्रों का संकलन है, जिनका गायन यज्ञादि के अवसर पर कर्मकाण्ड के लिए होता था। चार गायक होते थे, जिनको क्रमशः होता अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा कहते थे। यज्ञ के कार्यों का संचालन अध्वर्यु नामक ऋत्विज के द्वारा किया जाता था। यजुर्वेद में मंत्रों के अक्षरों की संख्या निश्चित होती थी। यह मंत्र गद्यात्मक होते थे और अध्वर्यु के द्वारा गाये जाते थे। इन मंत्रों को उपांशु स्वर में उच्चारित किया जाता था। संगीत के विकास की दृष्टि से यजुर्वेद का कोई महत्व नहीं लक्षित होता, तथापि प्राचीन संगीत को जानने के लिए यजुर्वेद का अध्ययन आवश्यक है। यजुर्वेद में विशिष्ट सामों का सम्बन्ध विशिष्ट ऋतुओं से जोड़ा गया है। रथन्तर साम का गायन बसन्त ऋतु में, बृहत्साम का गायन ग्रीष्म ऋतु में, वैरूप का गायन वर्षा ऋतु में तथा शाक्वर और रैवत का गायन हेमन्त ऋतु में होता था।

अथर्ववेद में संगीत

अथर्ववेद का एक विशिष्ट स्थान है अर्थव संज्ञा उन मंत्रों के लिये होता है जो सुखमूलक और मंगलकारी है। इन मंत्रों का सम्बन्ध उन अभिचार मंत्रों से है जिनका प्रयोग जारण-मारण आदि कार्यों के लिये किया जाता है। अथर्ववेद में सामवेद का पूर्ण गौर गान हुआ है। अथर्व के अनुसार ऋक्, साम दोनों यज्ञ कर्म के लिये ओज, बल तथा मांगल्य का सम्पादन करने वाले है, इन्हीं के द्वारा क्रियाकर्मों का विधान सम्पन्न होता है। अथर्ववेद में साम विश्वकर्मा परमात्मा को आदिम सृष्टि माना गया है। सामगान की समृद्धि अथर्व काल में हो चुकी थी तथा नानाविधि क्रिया-कर्मों में उसका महत्वपूर्ण स्थान था। अथर्व में साम-विशेषों का वर्णन पाया जाता है। विराट के अंग-प्रत्यय के रूप में वृहत, रथन्तर तथा वामदेव्य नामक सामविशेषों का उल्लेख मिलता है। ऋक तथा साम के घनिष्ट सम्बन्ध की बात अथर्ववेद में स्थान-स्थान पर पाई जाती है। विशिष्ट सामों तथा स्तोत्रों के अतिरिक्त गाथा, नाराशंसी आदि, लौकिक गीत प्रकारों का उल्लेख अथर्ववेद में उपलब्ध होता है।

वाद्यों के अन्तर्गत आघाट, कर्करी तथा दुन्दुभि का उल्लेख अथर्व में स्थान-स्थान पर उपलब्ध है। गन्धर्व लोक इन वाद्यों की ध्वनि से सदैव अनुनादित होता रहता है। अथर्व में गन्धर्व तथा अप्सराओं का दैवीकरण विशद रूप से पाया जाता है। यह अप्सरायें गन्धर्वों की पत्नियाँ है तथा सदैव यह नृत्य करती हुई सबका आमोद प्रमोद करती है। अथर्व में गन्धर्वों को दिव्य योनि में रखा गया है। युद्ध के समय वे इन्द्र की सहायता करते है गो की रक्षा भी इन्हीं के द्वारा होती है, जबकि समय पड़ने पर ये गन्धर्व तथा अप्सरायें दूसरों को हानि भी पहुँचा सकते हैं।

सामवेद में संगीत

सामवेद पूर्णतया संगीतमय है। साम संगीत से ही भारतीय संगीत का विकास हुआ, ऐसा कहा जाता है। गांधर्व वेद को सामवेद का ही उपवेद माना गया है। संगीत का मूल स्रोत सामवेद है। सामवेद एक ऐसा वेद है जिसके मंत्र यज्ञों में देवताओं की स्तुति करते पाये जाते थे। सामवेद आर्यों की संगीतज्ञता का ज्वलन्त उदाहरण है। आर्यों की मान्यता थी कि संगीत लोकरंजन एवं ईश्वर-रंजन के लिए उपयुक्त साधन है। साम गायन के अतिरिक्त गाथा नामक रचनाएँ भी उस समय थीं, जो लोकगीत के रूप में थीं और जिनका गायन विवाह आदि अवसरों पर वीणा के सहारे किया जाता था। धार्मिक अवसरों पर भी इनका आयोजन होता था। पर साम के समान शिष्ट या प्रतिष्ठित संगीत-शैली में इन 'गाथाओं' को उच्च स्थान प्राप्त नहीं था। पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी सामगान करती थीं।

सामगान में स्वर का विशेष महत्व था। साम का आरम्भ 'ओम्' स्वर से करने की प्रथा थी-

"ओमिति सामानि गायन्ति।" (तैत्तरीय उपनिषद्)

श्रीमद्भागवत गीता में सामवेद को ईश्वर का अंश माना गया है- "वेदाना सामवेदोऽस्मि।" जैमिनीय सूत्र के अनुसार- "गीतिषु समाख्या।" अर्थात् जो मंत्र गाये जाते हैं, वही साम कहलाते हैं। साम शब्द का मूल अर्थ ही गान रहा है। अधिष्ठान के रूप में ऋचाओं से सम्बद्ध होने के कारण उनके लिए भी 'साम' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। ऋग्वेद के छन्दमय मन्त्रों का ही गायन साम गायन कहलाया। इन्हीं गेय ऋचाओं का संग्रह 'सामवेद' कहलाया।

वैदिक काल के ये चारों ग्रन्थ उस समय की स्थिति को बताते हैं। इस काल की विशेषता यह थी की संगीतज्ञ व्यावसायिक दृष्टिकोण से संगीत न तो सिखाते थे और न उस प्रकार की साधना करते थे। इस काल में संगीत और धर्म का एक ही रूप था। आर्यों का संगीत वास्तव में पवित्रतम् संगीत था। संगीतज्ञ की समाज में प्रतिष्ठा थी।

वैदिक काल में संगीत को ब्रह्मानन्द की संज्ञा दी गयी। वैदिक कालीन संगीत प्रवर्तक आचार्यों में नारद, तुम्बरू, तण्डु, भरताचार्य, कोहल, नन्दिकेश्वर, काश्यप, विशखिल, दत्तिल आदि प्रमुख है। इन आचार्यों ने संगीत को साधना का माध्यम स्वीकार किया और आम जन के लिये संगीत श्रद्धा का पर्याय बनकर उभरा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास
2. शर्मा भगवत शरण, भारतीय संगीत का इतिहास
3. शर्मा स्वतन्त्र, भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विश्लेषण
4. सक्सेना सन्तोष, भारत में संगीत

वैदिक वाङ्मय में व्यक्त सांगीतिक चेतना

डॉ॰ सुधीर कुमार झा

विद् ज्ञाने धातु से व्युत्पन्न वेद शब्द परम ज्ञान का वाचक है। प्रत्येक पदार्थ में एक तत्त्व की अनुभूति ज्ञान है और उसका विनियोग ही विज्ञान है। श्रुति भवगती विज्ञान को ब्रह्म आख्या से अभिमण्डित करती है।[1] वैदिक वाङ्मय में संहिता ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद इन ग्रन्थों की परिगणना होती है। संहिताएँ, ऋक्, साम, यजुष तथा अथर्वाङ्गिरसनाम से परिकथित है। ऋच् स्तुतौ धातु से ऋक् शब्द व्युत्पन्न है। स्तुति परक मन्त्रों का संग्रह ऋग्वेद है। सामन का अर्थ संगीत होता है। गायन, वादन तथा नर्तन के विनियोग को संगीत कहा जाता है। सामवेद के मंत्र गीतात्मक है। यजुषात्मक वा गद्यात्मक यज्ञपरक मंत्रों का संग्रह यजुर्वेद में है। अथर्वा एवम् आंगिरस इन उभय ऋषियों के मन्त्रों का संग्रह अथर्ववेद में है।[2]

ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार सृष्टि का प्रादुर्भाव तथा विकास गायन तथा नर्तन का ही परिणाम हैं। सृष्टि के पूर्व शान्त समुद्र की सत्ता थी। तत्पश्चात् प्रकृति और पुरुष के पद विन्यास से जो बूँदें प्रकट हुईं, उनसे विविध ब्रह्माण्डो की रचना हुई। संदर्भ में ईश्वरीय तत्त्व की विद्यमानता है।

ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार ब्रह्मनाद का जब प्रकर्ष प्रकट हुआ तब अंतरिक्ष में स्वर की धारा प्रवाहित हुई।[3]

वैदिकी स्वर-प्रक्रिया भी विचारणीय हो जाती है। उद्गीथ को उच्च गायन कहा जाता है। यह प्रणव स्फोट है। डॉ॰ रमाकान्त पाठक ने लिखा है–

जहाँ प्रणव वन स्फोट, वहीं लयलीन अक्षरों की गति।
आकर्षण बन प्रेम उसी का, सब श्रुतियों की सम्मति।

श्रुति में रस वर्णन के क्रम में उद्गीथ को परम रस कहा गया है। प्राणियों के रस के रूप में पृथ्वी का उल्लेख है। पृथ्वी का रस आप है। आप या जल का रस औषधि है। इस औषधि का रस अन्न है। पुरूष को अन्न का रस कहा गया है। पुरूष के रस के रूप में वाक् का कथन है। इस वाक् का रस ऋक् (ऋग्वेद) है ऋक् का रस साम (सामवेद) है। साम या सामन के रस के रूप में उद्गीथ का उल्लेख हुआ है।

एषां भूतानां पृथिवी रसः
पृथिव्या आपो रसः
अपां ओषधयो रसः
ओषधीभ्यो अन्नः रसः
अन्नस्य पुरूषः रसः
पुरूषस्यवाग्रसः
वाक् ऋच रसः
ऋचूः साम्नः रसः
साम्नो उद्गीथो रसः[4]

छान्दोग्योपनिषद् में 'शौव उद्गीथ' का उल्लेख है। रात्रि काल में कुत्ते रूदन की अपेक्षा शौव उद्गीथ का गायन करते हैं। बकदाल्भ्य ने इस रस-रहस्य को प्रकट किया है।

ओं पिबा मो मदा

श्वेत श्वानो ने गायन पूर्वक कहा कि हम ईश्वर की अनुकम्पा से खाते-पीते हैं तथा आनन्दित रहते हैं।

सहायक प्रोफेसर, स्नातकोत्तर दर्शन विभाग, का॰सिं॰द॰सं॰ विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में सांगीतिक चेतना की विद्यमानता अनुसंधेय है।

'बृहदारण्यकोपनिषद् में जिस 'दहरविद्या' का उल्लेख है उसमें कहा गया है कि हृदयस्थ ब्रह्म के ध्यान से गीतवादित्र लोक का साक्षात्कार होता है।'

यो गीतवादित्र कामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुतिष्ठन्ति।

इसी आलोक में महावैयाकरण पाणिनि ने चतुर्दश माहेश्वरसूत्र का उल्लेख किया है। शिव के डमरू निनाद से इन सूत्रों का प्रादुर्भाव हुआ। यह डमरू समय वा काल का वाचक है। डमरू का मध्य वर्त्तमान काल है। जीव सदा ही वर्त्तमान में रहता है। इस प्रकार वर्त्तमान की साधना के परिप्रेक्ष्य में परा विषयिणी सांगीतिक चेतना की प्राप्ति होती है। परावै वाक् इस श्रुति के अनुसार परा परम वाणी है।

वैदिक स्वर प्रक्रिया के विस्तार के रूप में परवर्ती संगीत शास्त्र में रागों का उल्लेख किया जाता है। वैदिक यज्ञों में उद्गाताओं के द्वारा जिन मन्त्रों का गायन होता था, उनसे वातावरण में शान्ति तथा सद्भाव का आगमन होता था। इच्छित, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन त्रिविधा स्वर प्रक्रियाओं के द्वारा सिद्धि का विवेचन किया जाता है। गायत्री मन्त्र के अनुलोम विलोम प्रयोग से दिव्यास्त्रों का संधान अनुसंधेय है। ऋषि अगस्त्य इसी विधा के ज्ञाता थे।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैदिक सांगीतिक चेतना परम व्यापक है। इसके परवर्ती प्रभाव को भी देखा जा सकता है।

संदर्भ

1. विज्ञानो ब्रह्मेति व्यजानात- तै. उप.
2. विज्ञानं वै सम्राट् परमं ब्रह्म- वृ. उप.
3. न थर्वति स्वाधिकारान् मुञ्चति/ इति अथर्वा न थर्वति कम्पति इति अथर्वा।
   10 वेदान्त पारिजात- 27
   स्वर-सौरभ से कण-कण
   पूरित, जगी चेतना, खुशियाँ छाईं।
   पुलकित प्राण् हुए हैं मेरे नाद-ब्रह्म ने ज्योति जगाई।
   - मधुमन्दाकिनी - 13
4. छान्दोग्य उप. - 19

तबला वादन में पारम्परिक बन्दिशें (कायदे के विशिष्ट सन्दर्भ में)

डॉ. नीलू शर्मा

भारतीय संगीत में तबला सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय ताल वाद्य है। तबला वाद्य के प्रचलन में आने के बाद से ही तबला वादन सामग्री में क्रमशः विभिन्न वादन प्रकारों का आविर्भाव हुआ है। विभिन्न पूर्वज वाद्यों से भाषा एवं शैलीगत विशेषताओं को आत्मसात् कर इस वाद्य ने अपने अनुरुप भाषा, साहित्य एवं शैली का विकास किया। विभिन्न वर्णों के सहयोग से वादन हेतु विविध रचनायें विकसित हुईं। इनमें से कुछ पूर्वज वाद्यों से तथा कुछ इस वाद्य की मौलिकता लिए हुए हैं।

संगीत में घराने की परम्परा पूर्व से ही चली आ रही है। इस परम्परा का निर्वाह करते हुए तबला वाद्य में क्रमशः छः घरानों का निर्माण हुआ यथा- दिल्ली, लखनऊ, अजराड़ा, फ़र्रुख़ाबाद, बनारस व पंजाब। रचनाओं की निर्मिति एवं वाद्यानुरुप रचनाओं को विकसित करने में इन घरानों ने महती भूमिका का निर्वहन किया है। रचनाओं के विभिन्न प्रकार, प्रस्तुति के ढंग, अनेकानेक बन्दिशों की निर्मिति प्रमुखतया इन सभी घरानों एवं प्रतिनिधि कलाकारों के माध्यम से प्रचलन में हैं। प्रत्येक घराने में बोलों एवं रचनाओं के प्रयोग में अन्तर होता है। इनके वादन में तकनीकिगत वादन विशेषतायें होती हैं, जिनके ज्ञान से ही वादन में स्पष्टता, माधुर्य व प्रवाह होता है। इन्हीं से आवश्यकतानुसार विभिन्न लयों में प्रदर्शन सम्भव होता है।

बन्दिश : अर्थ एवं विकास - बन्दिश का शाब्दिक अर्थ है- 'बांधना' एवं 'कार्य योजना'। जिसे अंग्रेजी में 'Precautionary Measure' or 'To plan before hand' भी कहते हैं।

जिस प्रकार उपन्यास के लिए कथावस्तु होती है, कविता या निबन्ध के लिए विषय होता है, उसी प्रकार तबला वादन के प्रस्तुतीकरण के विषय को 'बन्दिश' कहते हैं।

साधारण अर्थों में किसी भी रचना को ताल शास्त्र के अनुरुप 'बांधना' ही बन्दिश कहलाता है।

पारम्परिक बन्दिशें : महत्त्व एवं आवश्यकता - विभिन्न घरानों के माध्यम से प्रचलित रचनाओं को परम्परागत बन्दिशें भी कहा जाता है। यह बन्दिशें ही इस वाद्य का मूल आधार व वादन स्वरुप हैं। इन बन्दिशों को विधिवत् रुप में प्रस्तुत करने में ही इस वाद्य का मूल निहित है। इसलिये बन्दिशों की उपलब्धता एवं सीखने व आत्मसात करने की प्रक्रिया पीढ़ी दर पीढ़ी अनवरत् चली आ रही है।

संगीत (तबला) कला में प्रारम्भ से ही गुरु-शिष्य परम्परा से शिक्षण चल रहा है। इस परम्परा में गुरु सानिध्य में रहकर कला शिक्षण व्यवहारिक रुप में प्रदान कर निष्पादक (Performer) तैयार किये जाते रहे हैं। परन्तु बीसवीं शताब्दी से संस्थागत शिक्षण प्रणाली द्वारा इस कला का शिक्षण हो रहा है। संस्थागत शिक्षण का आधार पाठ्यक्रम है, जिसकी धुरी शिक्षक है। साथ ही पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विद्यार्थी की शिक्षा प्रक्रिया का क्रम एक से अधिक शिक्षकों के मध्य भी चलता है। निश्चित अवधि में पाठ्यक्रम की पूर्णता हेतु शिक्षकों की भूमिका अहम्

असिस्टेंट प्रोफेसर (तबला), दयालबाग ऐडुकेशनल इंस्टीट्यूट, डीम्ड यूनिवर्सिटी, दयालबाग, आगरा

होती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि तबला वादन हेतु जिन विद्वान कलाकारों ने अथक परिश्रम एवं समर्पण से अनेकानेक बन्दिशों की रचनायें की हैं, उनका महत्त्व संस्थागत शिक्षण में भी उतना ही होना चाहिए, जितना कि गुरु-शिष्य परम्परा में होता आया है। तबला वादन में अनेकानेक बन्दिशों की रचनायें हुई हैं जैसे- पेशकार, कायदा, रेला, टुकड़ा, गतें इत्यादि। इन बन्दिशों के विभिन्न रचना प्रकार पृथक-पृथक घराने में प्रचलित हैं। प्रत्येक घराने की बन्दिश में उस घराने की विशेषतायें समाहित होती हैं। भाषा एवं लय की समन्वयात्मक रचनायें, महान तबला वादकों की इस वाद्य को अमूल्य देन है। विभिन्न वर्णों का संयोजन एवं वादन तकनीकि वादन शैली को पृथक बनाती है।

तबला वादन में कायदा - तबला वाद्य के वादन प्रकारों में कायदा महत्त्वपूर्ण है। 'कायदा', जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है, 'कुछ नियमों के बन्धन में बँधी एक रचना'। तबला शिक्षण में मूलभूत प्रारम्भिक विशेषताओं के ज्ञान कराने के बाद जैसे- वाद्य का रखाव, बैठक, हाथ का रखाव व अंगुलियों का संचालन, वर्ण ज्ञान, तालों के ठेके इत्यादि के उपरान्त सर्वप्रथम 'कायदा' ही सिखाया जाता है। 'कायदा' तबला वादन में रीढ़ की हड्डी की भाँति महत्वपूर्ण होता है। सभी घरानों की वादन शैलियों में 'कायदा' बजाया जाता है। इस वादन प्रकार के माध्यम से शिष्य को ताल, उसकी व्यवस्था व व्यवहार करने का ढंग, लय ज्ञान, दांये-बांये का महत्त्व, कल्पना शक्ति आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।

'कायदा सुनियोजित एवं सुनिश्चित व्यंजन प्रधान शब्द या शब्द समूह और उनके पूरक सहायक स्वरमय अन्तिम शब्दों की बनी हुई विस्तारक्षम, खण्डबद्ध, खाली-भरी युक्त तथा तालाकार कलापूर्ण ऐसी रचना है, जिसका प्रस्तुतिकरण साधारणतः मध्य व द्रुत लय में होता है।'[1]

'कायदा' के मूल स्वरुप को ही बन्दिश भी कहा जाता है। अपनी विशेषताओं के आधार पर ही यह बन्दिश निर्मित होती है। अर्थात् सम, खाली व विभाग के अनुकूल ही ऐसे वर्णों की निर्मिति होती है जिनका यथेष्ट विस्तार हो सके। कायदे का विस्तार मूल स्वरुप को ध्यान में रखते हुए पलटों के माध्यम से किया जाता है। प्रारम्भ से अन्त तक कायदे के प्रस्तुतिकरण को चार अंगों में बांटा जाता है- *मुख, दोहरा, पलटे या बल व तिहाई।*

घरानों की वादन शैलियों में कायदा - तबला वाद्य की वादन सामग्री के विकास में घरानों एवं उनकी वादन शैलियों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। अर्थात् घरानों ने जहाँ परम्परा को सुरक्षित रखने में योगदान दिया है वहीं इसके विकास में भी योगदान दिया है। घरानेदार वादकों ने तबला वादन के कलात्मक विकास के साथ-साथ व्यवहारिक प्रगति में भी सहयोग प्रदान किया है।

प्रत्येक घराना एक विशिष्ट एवं भिन्न शैली का सूचक होता है। घराना तभी अस्तित्व में आता है जब उसकी वादन शैली में कोई अनोखापन या विलक्षणता हो। यही अनोखापन घराने का विशिष्ट लक्षण होता है तथा घराने की पहचान कराता है। अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण ही प्रत्येक घराने का अस्तित्व कायम है। इस प्रवृत्ति के कारण वर्तमान में जो भी शैलीगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन्हीं को आधार मानते हुए विभिन्न वादन शैलियों में 'कायदे' का अध्ययन किया गया है। वादन शैलियों में भिन्नता दो प्रकार से हो सकती है- एक रचनाओं से तथा दूसरे बोलों की निकास पद्धति से।

यदि रचनाओं का आधार देखें तो विभिन्न घरानों में बोल बन्दिशों का अन्तर है तथा उसी से उनकी स्पष्ट पहचान होती है। तबला वादन में क्रमशः दिल्ली, अजराड़ा, लखनऊ, फर्रुखाबाद, बनारस व पंजाब छः घराने प्रचलित हैं। इन सभी में कायदों का प्रचलन है। प्रत्येक वादन शैली में प्रयुक्त वर्ण व निकास पद्धति के आधार पर ही बन्दिशों का निर्माण होता है। प्रयुक्त बोल बन्दिश घराने की अपनी निकास विधि के आधार पर ही बजाई जाती है।

दिल्ली एवं अजराड़ा घराने की वादन शैलियों को पश्चिम बाज तथा लखनऊ, फर्रुखाबाद व बनारस घराने की वादन शैलियों को पूरब बाज के अन्तर्गत रखते हैं। पंजाब घराने की स्वतन्त्र वादन शैली विकसित हुई है।

पश्चिम बाज :-

दिल्ली घराना :- इस घराने के कायदों की बन्दिश रचना प्रमुख रुप से दो अँगुलियों के निकास के अनुरुप होती है। इस बाज की अधिकांश बन्दिशें चतस्त्र जाति में निबद्ध होती है।

उदाहरण :-

(1) धाति टधा तिट धाधा तिट धागे तिन किन
X 2
ताति टता तिट धाधा तिट धागे धिन गिन
0 3

(2) धाऽ क्रधा तीध गेन धाती धागे तिन किन
X 2
ताऽ क्रता तीत केन धाती धागे धिन गिन
0 3

दिल्ली घराने में कलात्मक एवं विस्तार युक्त कायदे का प्रचलन है। इसके वादन में नाद की तीव्रता एवं लय दोनों को सीमित रखा जाता है। यहाँ की बन्दिशें इतनी कोमल एवं परिष्कृत होती हैं कि बन्दिश स्वयं ही तीव्रता की अपेक्षा नहीं करती हैं। अर्थात् अँगुलियों के संचालन में बारीकी तथा निपुणता की अपेक्षा रहती है।

<u>अजराड़ा घराना</u> :- अजराड़ा घराने में अधिकांश रचनायें तिस्त्र जाति में होती हैं। तिस्त्र जाति के कायदों का प्रचलन यहीं से प्रारम्भ हुआ। इस घराने में डग्गे का वादन प्रायः मींड़युक्त एवं दाहिने के बोलों से समन्वय रखते हुए होता है। अजराड़ा बाज के कायदों में एक विशेषता यह भी दिखाई देती है कि यहाँ कुछ कायदों की खाली में एक विशेष बोल समूह बजाया जाता है, जो खाली जैसा प्रतीत होता है परन्तु भरी के अनुरुप नहीं होता है। यह विशेषता केवल अजराड़ा बाज में ही मिलती है। इस घराने में चतस्त्र जाति में निबद्ध कायदे की बन्दिशें भी प्रचलित हैं। जिनमें दांये एवं बांये का बहुत ही सौन्दर्यपूर्ण मिश्रण देखने को मिलता है।

उदाहरण :- <u>तिस्त्र जाति का कायदा</u> -

धीनाऽधागेन धात्रकधागेन धात्रकधातीधा घेनातिनकिन
X
धात्रकधातीधा घेनाधातीघेना धात्रकधातीधा घेनातिनकिन
2
तिंगतिनकिन ताकेतिरकिट ताकेतिटताके त्रकतीनाकिडनग
0
तिरकिटतकताऽतिरकिट घेनाऽधागेन धात्रकधातीधा घेनाधिनगिन
3

चतस्त्र जाति का कायदा -

धाऽक्रधा तीधागेन धिनधागे धिनगिन
X
धातिरकिटधा तीधागेन धातीधागे तिनकिन
2
ताऽक्रता तीताकेन तातीताके तिनकिन
0
धातिरकिटधा तीधागेन धातीधागे तिनकिन
3

उपरोक्त कायदे के धिनधागे धिनगिन बोलों का सुन्दर समन्वय है, जिसमें अजराड़ा घराने की स्पष्ट छाप दिग्दर्शित होती है।

पूरब बाज :- पूरब बाज के अन्तर्गत लखनऊ, फ़र्रुख़ाबाद तथा बनारस घरानों की वादन शैली आती है। पश्चिम की अपेक्षा इस बाज में स्याही, मध्य चांटी या लव और थाप के बोल होते हैं।

लखनऊ घराना :- लखनऊ घराने के कायदे अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं। धिटधिट, धागेतिट, धिड़नग इत्यादि का प्रयोग लखनऊ की पहचान है-

उदाहरण :-

(1) धिटधिट धिटधागे नधिंऽन्न धागेधिन
X
धिटधागे नधातिट धिटधागे तिनकिन
2
तिटतिट तिटताके नतिंऽन्न ताकेतिन
0
धिटधागे नधातिट धिटधागे धिनगिन
3

(2)धातीधाऽ धाधातिरकिट धातीधाऽ धाऽतीना
X

धिड़नगतिरकिट तकतातिरकिट धातीधाऽ धाऽतीना
2
तातीताऽ तातातिरकिट तातीताऽ ताऽतीना
0
धिड़नगतिरकिट तकतातिरकिट धातीधाऽ धाऽधीना
3

फर्रुख़ाबाद घराना :- फर्रुख़ाबाद घराना स्वतन्त्र वादन के प्रस्तुतीकरण के दृष्टिकोण से उत्तम एवं सफल बाज है। इसलिए फर्रुख़ाबाद बाज के सुन्दर एवं विशिष्ट कायदों का अपना महत्त्व है। यहाँ के कायदे में प्रायः तकतक, धिनगिन, धिड़नग इत्यादि का प्रयोग होता है। साथ ही गतों के प्रचलन होने के कारण गत कायदे भी यहाँ खूबसूरती के साथ बजाये जाते हैं। उदाहरण -

(1) धागेतक धिनधागे तकधिन धागेतिट
X
धागेनधा तिरकिटधिट धागेतिरकिट तिनकिन
2
ताकेतक तिनताके तकतिन ताकेतिट
0
धागेनधा तिरकिटधिट धागेतिरकिट धिनगिन
3

(2) धातिरकिटधि नकधिन कतकधि नकतक
X
धातिरकिटधि नकधिन धिरधिरकिटतक तातिरकिटतक
2
तातिरकिटति नकतिन कतकति नकतक
0
धातिरकिटधि नकधिन धिरधिरकिटतक तातिरकिटतक
3

<u>बनारस घराना</u> :- बनारस घरानें में भी कायदों का प्रयोग किया जाता है। इस बाज में लव का सर्वाधिक प्रयोग होने के कारण यह बाज अन्य बाजों से पृथक हो जाता है। बोल गठन एवं निकास पद्धति में गंभीरता होती है। बांए से लम्बी मींड़ निकालने की प्रथा भी यहाँ मिलती है। साथ ही कायदे लम्बे भी होते हैं।

उदाहरण :-

(1) धागे नधा तिरकिट धागे
X
नधा तिरकिट धाधा तिरकिट
2
धागे नधा तिरकिट तूना
0
किटतक तिरकिट तकताऽ तिरकिट
3
ताके नता तिरकिट ताके
X
नता तिरकिट ताता तिरकिट
2
धागे नधा तिरकिट तूना
0
किटतक तिरकिट तकताऽ तिरकिट
3

(2) धागेनतिं ऽधागेना धाऽऽधा गेनातिंऽ
X
धागेनतिं ऽधागेना धागेतिरकिट धिनगिन
2
तिरकिटधीना गीनातिरकिट धिनगिन धिनगिन
0
तिरकिटतकता तिरकिटधाती धागेनधा तीधागेन
3
ताकेनतिं ऽताकेना ताऽऽता केनातिंऽ
X
ताकेनतिं ऽताकेना ताकेतिरकिट तिनकिन
2
तिरकिटधीना गीनातिरकिट धिनगिन धिनगिन
0
तिरकिटतकता तिरकिटधाती धागेनधा तीधागेन
3

<u>पंजाब घराना</u> :- पंजाब घराना स्वतन्त्र रुप से विकसित घराना है। साथ ही इस घराने की वादन शैली का प्रचार-प्रसार भी कम रहा है एवं पं. अल्ला रक्खा खाँ व उ. जाकिर हुसैन जी ने इस घराने के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

उदाहरण- <u>कायदा (पं. अल्ला रक्खा खाँ)</u>

(1)धातिरकिटतक तिरकिटधातिर किटतकतिरकिट धिनगिन

X

धातीधागे धिनगिन धातीधागे तिनकिन

2

तातिरकिटतक तिरकिटतातिर किटतकतिरकिट तिनकिन

0

धातीधागे धिनगिन धातीधागे धिनगिन

3

उपरोक्त कायदे के अतिरिक्त प्रो. मानस दास गुप्ता (शान्ति निकेतन) जी ने पंजाब घराने के कायदे के साथ में आड़ाचारताल का कायदा इस प्रकार बताया है-

(2) देरे दित कदे रेता देरे दित कदे रेता

X 2 0 3

देरे देरे दित कदे रेता दिर

0 4 0

उपरोक्त वर्णित सभी कायदे परम्परागत हैं, जो विद्वान कलाकारों द्वारा प्राप्त हुए हैं। अतः शिक्षा चाहे गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त की जाये अथवा संस्थागत शिक्षण से परम्परागत बन्दिश को अक्षुण्ण बनाये रखना वाद्य की उन्नति हेतु आवश्यक है। कायदा चूँकि तबला वादन का आधारभूत वादन प्रकार है। इसलिये शिक्षा प्रक्रिया में इसका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।

आधुनिक युग वैज्ञानिक युग है। जहाँ अनेक वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग ने क्रान्ति पैदा की है, तबला वाद्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पूर्वजों द्वारा, इस कला के लिये स्थापित सिद्धान्त एवं सांस्कृतिक धरोहर सवंर्धित एवं सुरक्षित रह सके।

<u>सन्दर्भित साक्षात्कार</u> -

प्रो. मुकुन्द भाले (खेरागढ़)
प्रो. मानस दास गुप्ता (शान्ति निकेतन)
स्व. डॉ. नलिन सुन्दरम् भट्ट

राग का भावों से सम्बन्ध

डॉ. अनिता रानी

भरत ने रस का आधार भाव माना है। उनके अनुसार भाव मन का विकार है जो वाणी अंग रचना और अनुभूति के द्वारा अपने विकारों को प्रकट करते हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं एक वह जो थोड़ी देर के लिये तरंग की तरह मन में उठ कर विलीन हो जाते हैं उन्हें संचारी भाव कहते हैं और दूसरे वह जो रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरे रहते हैं उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। स्थायी भाव आठ हैं - रति, हास्य, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुत्सा, विस्मय व शोक। आन्तरिक भावों पर बाहरी आकृति का प्रभाव पड़ता है जैसे रति भाव के उदय होने से चेहरे की कान्ति बढ़ जाती है क्रोध के उदय होने पर होंठ कॉपने लगते हैं। इसी तरह और भावों में भी बाह्य लक्षण दिखते हैं।

संगीतकार संगीत द्वारा अपने हृदयगत भावों को दूसरों पर प्रकट करता है। संगीतकार मेघों से आच्छादित आकाश को देख वर्षा के आगमन पर मेघ राग आनन्द पूरित होकर गाने लगता है इस तरह आस-पास के वातावरण का प्रभाव उस पर पड़ता है इस आनन्द को वह संगीत के माध्यम से प्रकट करता है और इस आनन्द में वह इतना आत्मविभोर हो जाता है कि वह अपने आप को भी भूल जाता है साथ ही अपनी इस प्रसन्नता में सारे वातावरण व सभी श्रोताओं को प्रभावित करता है।

जब हम रेडियो पर कोई दुःख के कार्यक्रम सुनते हैं तो उठ कर नहीं चले जाते या रेडियो बन्द नहीं कर देते बल्कि उस भाव के वशीभूत होकर हम भी उस रस का आनन्द लेना चाहते हैं। एक संगीतकार अपनी कल्पना शक्ति द्वारा ऐसे मनोरम आनन्द को प्राप्त करता है जिसे मोक्ष कहा जाता है और अपने भाव को वह नाच द्वारा अपने श्रोताओं को भी भरने में सफल होता है कुछ विशेष राग, कुछ विशेष प्रकार के भावों को मन में भरते हैं और उसको उभार कर सामने लाते हैं। जैसे रे ध कोमल वाले राग भैरव से हमेशा एक शान्त भाव, ग नि कोमल वाले राग काफी से उत्साह अथवा करुणा का सा भाव महसूस होता है। इस तरह से प्रत्येक राग से कुछ ना कुछ भावों की अभिव्यक्ति होती है। भरत ने इन्हीं आठ स्थायी भावों से आठ रसों की उत्पत्ति मानी जैसे रति से श्रृंगार रस, उत्साह से वीर रस, हास से हास्य रस, क्रोध से रौद्र रस, भय से भयानक रस, विस्मय से अदभुत रस, जुगुत्सा के भाव से जुगुत्स रस माना है। मनुष्य के अन्तकरण में नाना विधि भावनाओं की उत्पत्ति होती है। उसका सूक्ष्म अवलोकन करने के बाद नौ प्रकार की भावनायें प्रमुखतः होती हैं और उन प्रमुख भावनाओं में अन्य सभी भावनायें अन्तर्मूर्त होती हैं। ऐसा शास्त्रकारों ने माना है और यही भाव बढ़ते-बढ़ते रस का रुप ले लेते हैं जैसे क्रोध स्थायी भाव बढ़ जाने पर रौद्र रस बढ़ जाता है।

राग गायन में गीतों में वर्णित भावनायें ही स्थायी भाव होते हैं यानि जिन स्वर रचनाओं में वह गीत रचे गये हैं। वह स्वर शब्द रचना ही स्थायी भाव है। भरत के अनुसार राग स्वंय एक रस है। भरत ने ऐसा भी कहा है कि मध्यम और पंचम स्वर श्रृंगार व हास्य रस के अनुकूल है। षडज, ऋषभ वीर व अदभुत रस को गन्धार और निषाद करुण

वरिष्ठ प्रवक्ता : संगीत (सितार), बी.डी. जैन गर्ल्स (पी.जी.) कॉलेज, आगरा

रस है जैसे स्वर शिखण्ड और भयानक रस के लिए। रस व भाव की अनुभूति ही राग का सन्देश है और भावनुभूति है उसका उद्देश्य। रस मानव के अन्तकरण को विशिष्ट भावनाओं का परभोक्तर्त्व है।

यह भी स्पष्ट है कि गीत स्वरूप और उसकी स्वर रचना का आपस में गहरा सम्बन्ध है। गीत रचना में शब्दों के भाव व रस सम्पदृकूल ही रचे जाते है। संगीत में भाव का महत्व है ही। जब साधारण व छोटे-छोटे बच्चे भी चित्रपट संगीत में रुचि लेते है क्योंकि वहाँ जिस समय जो गीत होता है उसी वातावरण के अनुकूल शब्द होते हैं और उसी के अनुकूल स्वर रचना होती है। इसी से साक्षात भावों का प्रादुर्भाव होता है जो सभी को स्पर्शित कर लेता है इसलिये फिल्मों में बैक ग्राउण्ड म्यूजिक की जरुरी लक्षण है इसके बिना किसी भाव को जागृत करना या किसी विशेष रस की सृष्टि करना सम्भव नहीं हो सकता। स्वरों की सहायता से उस साधारण के अन्तकरण पर उस संगीत का प्रभाव पड़ता है इससे यह स्पष्ट है कि स्वर और राग के बिना भाव व रस की सृष्टि नहीं होती।

राग के स्वर व गीत के शब्द जब एक प्राण दो शरीर हो जायें तो राग जैसे सजीव हो उठता है और भाषा नया रुप धारण कर लेती है। गीत की एक खास चाल होती है और उसी चाल व लय के प्रभाव से कोई भी सहज व्यक्ति ताल देने लग जाता है। गीत भाव व्यंजना में भी सहायक होते हैं। इस तरह से नाट्य काव्य और संगीत तीनों ही पूर्ण रुप से मनुष्य को रसानुभव कराते हैं। नाट्य में केवल आंगिक अभिनय है। काव्य में केवल भाषा और संगीत में केवल नाद साधन है इसलिये तीनों ही रस और भाव उत्पन्न करने में समर्थ है। तीनों ही हमें लौकिक चिन्ता से मुक्ति देते हैं तथा जीवन में नवीन प्राणों का संचार करते हैं और शक्ति देते हैं।

राग में भाव प्रकाशन की शक्ति सीमित है पर है अवश्य। केवल राग से हम भाव विशेष की सृष्टि तो कर सकते हैं किन्तु भाव का उतना उन्नति उसके द्वारा सम्भव नहीं। इसी से भाव में भाषा प्रधान कारण है। कोई भी राग श्रोताओं में एक खास मन स्थिति का निर्माण करता है। गायक वादक द्वारा की गयी राग की अवधारणा हमें तन्मय कर देती है गीत के द्वारा सुनने वालों के हृदय में स्थित उनके व्यक्तिगत राग द्वेष इत्यादि को दबाकर उन्हें आनन्द भाव की अनुभूति करायी जा सकती है। भाषा भले ही कभी-कभी ठीक मनोभाव को व्यक्त करने में समर्थ न हो पर नाद कभी असफल नहीं होती। हर्ष, शोक आदि मन स्थितियों को व्यक्त करने वाले नाद सभी जगह एक हैं। वह भाषा की तरह एक देशीय नहीं हैं। स्वर के आधार पर राग के तीन वर्ग हैं जिनसे कुछ खास भावों का प्रदर्शन सम्भव है। रे ध वाले राग संधि प्रकाश रागों से शान्त तथा शोक का भाव अर्थात् करुण रस की अभिव्यक्ति होती है। रे ध कोमल स्वर वाले रागों में रति भाव यानि श्रृंगार रस की और ग नि वाले रागों से उत्साह यानि वीर रस और साथ ही कहीं -कहीं करुण रस की अभिव्यक्ति होती है। विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति में समय का विशेष महत्व है। समय के ही अनुसार मानव के अन्दर विभिन्न प्रकार की भावनायें व विचार उठते हैं जैसे प्रातःकाल के समय जब सारा वातावरण शान्त रहता है तब मनुष्य हृदय शान्ति व भक्ति रस से प्लावित रहती है तभी इस समय शान्ति व भक्ति रस के राग भैरव व जोगिया आदि गाये जाते हैं और वह तन की भावनाओं को व्यक्त करने में सहायक होते हैं। सूर्यास्त के समय थका हुआ निराश सा भाव जब दो अवसाद, विषाद और वैराग्य सा मनुष्य अनुभव करें इस समय वैराग्य पूर्ण उपदेश भरे करुण रस मिश्रित पूर्वी, मारवा राग मन पर अपनी छाप छोड़ देते हैं। रात्रि के समय मनुष्य के मन में श्रृंगारिक भावनायें जाग्रत होती हैं। उस समय श्रृंगार भाव के राग जैसे जैजवन्ती, बिहाग आदि गाने से मन पर एक और ही प्रभाव होता है। इसी तरह विभिन्न ऋतुओं के राग भी उसी तरह की भावनायें जगाते हैं। बसन्त ऋतु में बसन्त राग अथवा बहार राग एक नया उत्साह मन में जगाता है। सावन में मल्हार राग से एक अजीब आनन्द का अनुभव होता है। इन रागों में ऋतु अनुकूल भाव ही हैं साथ ही उसी के अनुकूल शब्दों की रचना उसको

और भी भावात्मक बना देती है जैसे बहार राग की एक शब्द रचना केतकी गुलाब जूही चमक बन फूले सुनकर मन में व ऑखों के सामने फूलों की बहार का सा सुगन्धित वातावरण जाग उठता है और उसी प्रकार का उत्साह का भाव मन में उठता है। इसी तरह सावन के गीत मल्हार राग में उसके स्वर व शब्द उसी तरह के भाव जाग्रत करते हैं जैसे देश राग का एक गीत मेघा रे बन-बन डार-डार मुरला बोले। ऐसा लगता है जैसे रिमझिम फुहार पड़ रही है और मन में शीतलता का अनुभव होता है। इसी तरह मन दुःखी हो और कोई करुण रस का राग और करुण शब्दों की बन्दिश गायी जाये तो वह भी मन के भावों को छू जाती है और ऑखों से अपने आप ही अश्रु धारा बहने लगती है। इस तरह ये स्पष्ट है कि राग का भावों से विशिष्ट सम्बन्ध है।

सन्दर्भ सूची

1. गर्ग लक्ष्मी नारायण, संगीत शास्त्र विज्ञान
2. बृहस्पति आचार्य कैलाशचन्द्र देव, गीत और रस
3. गर्ग डॉ. लक्ष्मीनारायण, निबन्ध संगीत
4. जैन विजय लक्ष्मी, संगीत दर्शन
5. शर्मा प्रो. स्वतन्त्र, सौन्दर्य रस और संगीत
6. प्रसाद डा. ईश्वरी तथा शर्मा शैलेन्द्र, प्राचीन भारतीय संस्कृति कला
7. भारद्वाज डा. शशि, लय व ताल का रसाभिव्यक्ति में योगदान
8. संगीत पत्रिका
9. छायानट
10. संगीत कला बिहार

पंजाब के लोकगीतों में सांस्कृतिक चेतना

डॉ. सोनदीप मोंगा

लोकगीत मानव जीवन दर्शन का खज़ाना माने जाते हैं, क्योंकि इनमें जन-साधारण के आदर्श, कल्पना, प्रेम, भक्ति, अनुराग, धर्म, कला, रिश्ते-नाते, अपनापन, सामूहिक एकता आदि सम्मलित होते हैं। इनसे मानव जीवन यात्रा का प्रत्येक पग सुन्दर, सुरमय और सजीव बन जाता है। माधुर्य, सरलता, सादगी, प्राकृतिक आकर्षण लोकगीतों के प्रमुख लक्षण हैं। मनुष्य की आयु चाहे जितनी भी हो, फिर भी लोकगीत इनकी कई पीढ़ियों तक चलते हैं। लोकप्रियता इनको सदियों तक अमर कर देती है और मौखिक रूप में चलते-चलते यह लोक-प्रवाहित हो कर साहित्य में प्रवेश करते हैं। आधुनिक संदर्भ में मीडिया और ग्लोबल परिवेश में प्रवाहित होते हुए लोकगीत आज भी मानव जीवन में प्रभावित रूप में शामिल हैं, परन्तु लोकगीतों को भौगोलिक और क्षेत्रीय संस्कृति के संदर्भ में विचारना अधिक उचित है क्योंकि यह विशेष जाति की भाव-वेदना और जीवन उपमाओं सहित सुरवध होते हैं। पंजाबी लोकधारा विश्वकोष के अनुसार :

'लोकगीत किसी जाति के हृदय का प्रकाश होते हैं। यह लोगों की वह वेगमय भावनाएं और वेदनाएं हैं जो सहज रूप में ही शब्दों का बाना धारण करके समृद्ध हो गई हों। इनकी तुलना उन चश्मों से की जा सकती है, जो धरती की छाती से ही छलक कर बहने लगते हैं या फिर उन फूलों की तरह, जो जंगलों और विरानियों में खुद-बखुद उगते और महकते रहते हैं। इसके बीच का सोहज-रस हवा के साथ उस सुगंधि की तरह मनमोहक होता है जो पता नहीं कहाँ से महक लाती है। यह लोकगीत मानवी मन का उछाह है, हृदय की तह की कोई तरंग जैसे जीवन का कोई झोंका हो। [1]

आदि काल से मानवीय स्वभाव है कि वह अपनी मानसिक संवेदनाओं को सुर या तर्ज में भावपूर्ण अभिव्यक्त करता रहा है इसलिए संगीत को मनुष्य का सहायक, संगी, सखा माना जाता है। शब्द-रचना उसका मनो-सहज है। व्यक्तिगत तौर पर मानव अन्तर-मन की हर तार समस्त मानव जाति के लिए एक नवीनतम् अनुभव है। यह सत्य है कि मनुष्य कभी अपने चेतन मन को छुपा नहीं सकता लेकिन उसके अवचेतन और अर्ध-चेतन मन का कोई भेद नहीं पा सकता। मानव विचार संस्कृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन रहस्यों की चाबी लोकगीत हैं जो सारे लोगों की मनो-वेदनाओं तक पहुँच बना सकते हैं। डॉ. नाहर सिंह भी लोकगीत को इसी तरह परिभाषित करते हैं कि 'लोकगीत किसी क्षेत्र के लोगों के सामूहिक मन और अवचेतन को ज्ञात करने के लिए विश्वसनीय सामग्री प्रदान करते हैं। लोकगीत संबंधित जन-समूह अथवा जाति की समूची परंपरा के मौलिक स्वर का एक विशेष उच्चारण है। इस विशेष स्वर में संबंधित जन-समूह के आस्तित्त्व की पहचान निहित है। लोकगीत किसी जाति के मन का ज्योति स्वरूप होते है, जिसके द्वारा वह जाति अपना मूल पहचान बना सकने का सामर्थ रखती है।'[2]

अगर पंजाबी लोकगीतों को गौर से देंखे तो यह पंजाबी जन-जीवन और संस्कृति की तरजुमानी करते हैं परन्तु इससे यह नहीं समझा जा सकता कि पंजाबी लोगों ने लोकगीतों को किसी अलग सांचे में ढ़ाला होगा। लोकगीत सदैव स्वनिर्मित होते हैं।

मगर इसकी क्षेत्रीय पहचान इसको विलक्षणता प्रदान करती है। यह लोकगीत ही है जो किसी जाति की परंपरा और संस्कृति को जीवित रखने के सशक्त

माध्यम के तौर पर प्रयोग होते है। डॉ. रश्मि नन्दा के अनुसार' लोक गीतों का घेरा बहुत विशाल है। मानव जीवन के मूल भावों को सादे रूप में व्यक्त करने की शक्ति लोकगीतों में ही होती है। केवल दो तुकों में जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों को काव्यमय और सुरमय ढ़ंग से कहने की शक्ति लोकगीतों में है।[4]

पंजाबी लोकगीतों में यह सामर्थ भरपूर रूप में उपलब्ध है। पंजाबियों ने भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक काल में भगवान, मनुष्य, मृत्यु, जीवन, दर्शन जैसे मूल संकल्पों को कैसे लिया, समाज के प्रति क्या व्यवहार रखा, अपनी सांस्कृतिक रचनाओं का जो उन्नत बिम्ब रचा है, युग-अतिताइयों के दौरान पंजाबी मानसिकता का क्या परिप्रेक्ष्य रहा और पंजाब में सदियों से बाहरी आक्रमणों की वजह से गूंजती वेदनमयी सुरें, यह सब पंजाबी लोकगीत की जड़त बन गया, जिसने पंजाबी लोकगीत के मूल स्वरूप को जीवन के आवश्यक सरोकारों, भावों और रिश्तों के साथ जोड़ा, जो कि व्यक्ति, परिवार और गाँव को फोकस करता है जैसे उदाहरण के तौर पर :

पिंडा बिचों पिंड सुणींदा
पिंड सुणींदा माड़ी
उथों दियां दो कुड़ीयां सुणींदियां
इक पतली इक भारी
पतली दे तां खट्टा डोरिया
भारी दे फुलकारी। [5]

परन्तु पंजाबी लोकगीतों की भाव-अभिव्यक्ति शुरू से ही ज्यादातर स्त्री-प्रधान है क्योंकि पंजाबी जन-जीवन संरचना में घर की नारी के पास वक्त था और एक साथ मिल बैठने का अवसर था जिस कारण एक जगह की औरतें अपनी मनो- संवेदनाओं को व्यक्त करने के लिए अपना अलग टैखट-प्रबंध बुनती गई जो पंजाबी के सुप्रसिद्ध लोकगीतों में प्रचलित हुआ जैसेः

-साड़ा चिड़ियां दा चम्बा वे बाबला असां उड़ जाणा।
साड़ी लम्बी उड़ारी वे बाबला केहड़े देस जाणा। [6]
-मापिआं ने मैं रखी लाडली, सोहरी भीड़ी थांह वे
मैं नहीओ वसणा, तेरी कृपत्ती मां वे, मैं नहीओं वसणा। [7]

एन.कौर पंजाबी नारी के उस समय के हालात पर टिप्पणी करते हुए लिखते है 'पंजाबी सवाणी के लिए ससुराल तिलकनबाजी है जहां पांव जमाना उसकी जिन्दगी की महान जीत समझी जाती है। मुटिआर (नवयुवती) का रंग रूप स्वभाव, उसके माता पिता द्वारा दिया गया दित्र-दाज़, बच्चे की कमी या सिर्फ बेटी की मां बनने का दोष कुछ ऐसे पहलू हैं, जिससे वह हमेशा ऊँच-नीच में रहती।' [8] एक तरफ पंजाबी औरत ने लोकगीतों में इन सवेंदनाओं को सास ससुर, जेठ, देवर, माही, ननद, भाभी जैसे रिश्तों के संदर्भ में बढ़ी शिद्दत्त के साथ व्यक्त किया है दूसरी ओर 'पंजाबन जीवंत हृदय वाली है, वह जिन्दगी के दुःख-सुख पूरे साहस के साथ व्यतीत करती है। उसके वियोग के गीत उदासी का पड़ाव पार कर रोमांस की हदों को छू जाते हैं और लगता है कि वह इन वियोग के पलों से भी प्रेम करती है। प्रिय की अनुपस्थिति में वह ज़िन्दगी का एक-एक पल दीए की तरह जला कर अपनी हथेली पर रखकर गुज़ार रही है। रंगीन मौसम कहर ढ़ाते हुए उसके पास से गुजर गए और मुटिआर के गीत जवानी के प्रेम के नाम पर संगी को आवाज़ दे रहें है।[9]

पंजाब में कृषि प्रमुखता होने के कारण पुरूषों के प्रवचन सहित रचे गीत काम-धन्धे और फसलों की बिजाई, कटाई और मेंलों तक सीमित रहे, फिर भी पंजाबी लोक-गीतों को मुख्यतया जन्म की लोरियों, शादी-विवाह की सुहाग-घोड़ियों और अंतिम समय में पाये जाते वैण के विविध रूपों के द्वारा मूर्तिमान किया जा सकता है जैसे बच्चे के जन्म अवसर पर स्वप्नों की रचना लोकगीतों में झलकती हैः

अलड़ बलड़ बावे दा
बावा कनक लिआवेगा
बावी बैठी छटेगी
मां पूणीयां वटेगी
बावी मन्न पकावेगी
बावा बैठा खावेगा।[10]

इसी लोरी का सत्य शादी में गाई जाने वाली सोहाग और घोड़ियों में आभासित होता है। घर के बड़े बुजूर्ग इन शगुनों की मलकीयत रखते हैं। नमूने

के तौर पर इस सोहाग में दर्ज भावनाएं इस बात की गवाही भरती हैः

मैं वारी पहला बन्ना किन्हे लाया
दादी तां ऐदी सदा वे सोहागण
पहला बन्ना उन्हे लाया ।[11]

और साथ ही बहन का भाई बावा घोड़ी पर बैठकर सुरजन बन जाता है।

घोड़ी तेरी वे वीरा सोहणी
सजदी काठीयां दे नाल
काठी डेढ़ ते हज़ार मैं बलहारी
वे माँ देया सुरजणा। [12]

इस प्रकार रिश्तों का ताना बाना बुनती यह लोकगीतों की बारात ही लगती है परन्तु मातम के समय पिट-सियापा भी हूक भरा हो सकता है यह शायद पंजाबी संस्कृति की अनोखी विलक्षणता है। वैन कीरने और अलाहुणी भाव अलहा, भगवान के आगे फरियाद करने को भी इन लोकगीतों का हिस्सा माना जाता है जो अन्तर मन के भावों का विवेचन पेश करते हैं। जीवन पंथ का प्रत्येक अनुभव इनमें गूंथा पड़ा है। पंजाबी लोकगीतों के सांगीतिक पक्ष में भी मौलिकता है और शब्दावली बहुभाषी है। सूफी और गुरमति संगीत काव्य रूपों की छाप इन पर बखूबी देखी जा सकती है। ढाणीयों, अखाडों, झिंज मेलों ,तीज-तिंरजन,लोहड़ी तथा शादियों में इनकी पेशकारी को विविध रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यह सहज स्वभाव थिरकते,मचलते गीत तूफानी रवानगी, तंरगित भाव संचार और लयमयी अभिव्यक्ति रखते है। सुखदेव माधपुरी पंजाबी लोक गीतों को अभिव्यक्ति के आधार पर वर्गीकृत करते हुए लिखते हैं 'पंजाब के लोकगीतों में पंजाब का जन जीवन धड़कता है, यह पंजाबियों की कलात्मक संरचना की सहजात्मक अभिव्यक्ति है पंजाब के लोकगीत अनेक रूपों में उपलब्ध है। एक लड़िया और लम्बे बोल, दोहा, माहिया, कलियाँ, लोरियां, थाल, हेरे, सिठ्ठनियां, घोड़ियां, सोहाग, ढोले, वधावे, अलाडणियां, लम्बे गोण आदि। [13] यह पंजाबी लोकगीतों के प्रकार पांच दरियाओं की धारा जितने शक्तिशाली और प्रवाहित परंपरा की संरचना करते है।

लोक गीतों के कथन में ही इनकी रचना प्रक्रिया का भेद छुपा हैः

वगदी आ रावी माही वे
वे विच पत्र चलाई दा ढोला
मैं न जमदी माही वे
वे तू किथे विहाई दा ढोला। [14]

यह वह गीतों की लड़ी थी जिसमें पंजाब के गावों की आर्थिक हालत बहुत खराब थी, कृषि का विकास नहीं था, लोग कुओं से पानी भरते थे, यातायात के साधन न थे, भाई घोड़े पर ही सवार होकर बहिनों को मिलने जाते थे। बेटियों की छोटी उम्र में ही शादी कर दी जाती थी। ससुराल में उसकी कोई सार लेने वाला नहीं था, रिश्ते-नातें बहुत गहरे थे। ननिहाल और दादी के घर का स्नेह बहुत दुलारने वाला था। कालांतर के साथ पंजाब ने अपने भौगोलिक नक्श बदले और सभ्यता के नये क्षितिज खोजे। पंजाबी लोकगीत की विलक्षणता यह है कि इन्होंने जहां नई राह को अपनाया वहीं मानवी परिवर्तनशील निज के नये पैटर्न भी रचे। जैसे-जैसे पंजाब की राजनीतिक, आर्थिक,सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियां परिवर्तित हुई वैसे ही इसके लोक गीतों का विषय -वस्तु भी बदल गया।

पंजाबी समाज में संयुक्त परिवारों की जगह छोटे परिवार बनने शुरू हुए तो लोकगीत में नारी की क्रान्ति का स्वर सुनाई देने लगाः

ससे लड़िया न कर
ऐंवे सड़िया न कर
बहुती औखी ऐं ता
चल सानू अड़ कर दे। [15]

गांव की जगह शहरीकरण का ढिंढोरा भी पंजाबी लोक गीतों में ताना बना। जहां पांरपरिक पहरावा लोकगीतों का श्रृंगार था वहीं नये जमाने में उसी पहरावे को नकारा भी गयाः

-वे मैं पिंड दी तू शहर दा खिडोणा
वे तेरी मेरी नहीओ निभणी
-कढ़ी होई जुती असीं कदिओ न पावनी
हील पा के बजार जाना। [16]

नये समय में जवानों ने शहर जाकर काम धन्धे करने शुरू कर दिये और युवतियां कालेज में पढ़ने लगी। अब लोक गीतों में बेटी की सता का बोलबाला हो गया:

सोहरेयां दे घर कुड़िओ मेरी सरदारी नी
हुक्म चले जिवें चले सरकारी नी।
सस वी मेरे तो डरी होई ऐ
नी मैं पंदरा जमातां पढ़ी होई ऐ । [17]

संचार क्रान्ति द्वारा मनोरंजन का जगत बदल गया। लड़के -लड़कियों की रूचि में बदलाव आ गया। प्रेम-प्यार की शब्दावली भी बदल गई:

कालेज दे विच पढ़दे मुडेया
अख न पढ़ाई विच रखदा
फीसां देदे मापे हारगे
तु न पुरीआं करदा
टिकटां फिल्म दीयां लै सिनमे विच वड़दा[18]।

पश्चिम की नकल से फैशनवाजी का दौर हो गया। शिक्षा संचार और आधुनिकता के कारण पंजाबियों का पूरा का पूरा परिवेश ही बदल गया। जीवन मूल्यों में परिवर्तन आ गया और एक नयी सांस्कृतिक तसवीर उभर के सामने आई जिसको लोकगीतो ने भी अपनाया:

अजकल दीयां कुड़ीआं फैशनदार
मेरी माँ तौबा
साड़ी न पाउंदीआं सूट न पाउंदीआं
पैंट सजाउदीआं मुडिआ नाल। [19]

बाजारीकरन के चलते इनमें व्यापार की प्रवृति हावी हो गई। पंजाबी लोक बड़ी-बड़ी शापिंग मालों के मालिक हो गये। प्रत्येक वस्तु सेल -ऐबल कामोड़िटी का रूप धारण कर गई लोकगीतों में इनके प्रतिमान स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं:

हर माल मिलेगा, ढ़ाई आने
हर माल लाटरी, ढ़ाई आने
सब करदां चाकु, ढ़ाई आने
बई मुंड़े दा बापू, ढ़ाई आने
बड़ा शाहुकार है, ढ़ाई आने
नाल मोटर कार है, ढ़ाई आने। [20]

बदलते समय के साथ गायन और संगीत में क्रान्ति आ गई। लोक गीतों की रिकार्डिंग और वीडियो ग्राफी ने पूरे विश्व में पंजाबियों की बल्ले बल्ले करवा दी। बालीवुड़ सहित दुनिया का कोई भी देश ऐसा नहीं जहां पंजाबी गीत न गूंजते हो। इसके अतिरिक्त और संस्कृतियों से संबधित लोग भी पंजाबी लोकगीतों से आनन्दित होना चाहते हैं इसकी वजह शायद इनकी खुशहाल भावनाएँ है जैसे जैजी बैंस के सर्वप्रिय गीत के बोल है :

सारी दुनिया तो चले मेरा ना नी
गला हुंदीआं ने विल्लो थां-थां नी
तैनु सोने च मड़ा दिआं सारी
ला मेरे नाल यारी नी ऐह गल पक्की
जट मौजां करदा ऐ रब ने थौड़ कोई न रखी

संचार क्रान्ति और कम्प्यूटर युग का हवाला बनता है कमलहीर का यह गीत:

राती ओहदी फोटो वेखी फेसबुक ते मै

गिप्पी गरेवाल का बरैंड़ नयु गीत नये जमाने की नयी सामग्री प्रस्तुत करता है:

सैड़ सौंग जिहा गाणा मैं आई फोन ते लाया सी

यह सारे प्रासगिक बयान पंजाबी संस्कृति को इस के मूल से अलग करके नए सांस्कृतिक धरातल पर ला खड़ा करते हैं। परन्तु विद्वानों ने इसको सांस्कृतिक अलगाव के तौर पर परिभाषित किया है और इसके साकारत्मक पक्ष को अनदेखा कर दिया। जैसा कि प्रो. कृपाल कज़ाक लिखते हैं ' सिद्धान्त तौर पर सांस्कृतिक चेतना में ही परंपरागत नियमों को बनाना, तरतीब देना, लागू करना और सुरक्षित रखने में रोल अदा करना होता है। पंजाबी संस्कृति और लोग पंरपरा बाहरी और आंतरिक परिवर्तन को किस रूप में रोकने के लिए बलशील रहेगी इस गति के बारे में टिप्पणी करना कठिन है।[21] सोचनीय है कि आज पंजाबी बन्दे की जो मानसिक संवेदनाएं होगी वही उस की लोक-बोलियों की सांगीतिक अभिव्यक्ति होगी। उसके बारे में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। नये समय की नई गीत की शब्दावली उसकी नई सांस्कृतिक आवश्यकता हैं निश्चित रूप में इसका ऐतिहासिक वेग और

प्रमाणिकता कभी लुप्त नहीं हो सकती क्योंकि इसके बिना किसी जाति के लोकगीतों की भीनी सुगन्ध और जीवन रसात्मकता बनी नहीं रह सकती। इसलिए इन लोकगीतों को इनकी सांस्कृतिक चेतना की गति के साथ समझना चाहिए। डा. रविन्द्र रवि भी चेतना की इस सांस्कृतिक गति को व्याख्याकृत कर रहें है 'सांस्कृतिक रूपान्तरण एक निरंतर और गतिशील व्यवहार है पर बीसवीं सदी के विश्वव्यापी परिवर्तनों ने इस गतिशीलता को अति अन्त तेज़ किया है। विज्ञान और तकनीक का विकास वैश्वीकरण, संचार क्रान्ति यातायात के साधनों की तेज़तराती, मूल ढांचे का विकसित होना। सभी कारण ही सांस्कृतिक परिवर्तन के वाहन बने हैं। इन सांस्कृतिक परिवर्तनों ने स्थापित मूल्य प्रबन्ध को भी बदला और नये मूल्य सिरजे। [22]

इस प्रकार माना जा सकता है कि पंजाब के लोकगीत सांस्कृतिक बदलाव के साथ एक निरंतर गतिशील सफर को तय करते हुए नवीन संभावनाओं के पथ पर अग्रसर हैं वैसे भी लोकगीत एक ऐसी संगीत विधा है जो अपने नयेपन से ही प्रभाव बनाती है, इसका नई चेतना के साथ सजग रहना स्वभाविक है और आवश्यक भी है।

संदर्भ

1. सिंह सोहिन्दर, वणजारा बेदी, पंजाबी लोकधारा विश्वकोष, पृ. 2052
2. सिंह डा. नाहर, चन्ना वे तेरी चानणी, पब्लिकेशन बिउरो, पंजाबी यूनीवर्सिटी पटियाला, 1998, पृ.3
3. Encyclopaedia of Britannica ,Vol. I. Page 443
4. नन्दा डा. रश्मि, उत्तर भारत के लोकनाच, इंटरनैशनल पब्लिशर्स अमृतसर, 2012 पृ. 53
5. सिंधु प्रभुशरण कौर, पंजाब दे मिठड़े बोल, रूपकिरन पब्लिशर्स पटियाला, 1990 पृ. 302
6. रंधावा मंहिन्दर सिंह व देवेन्द्र सत्यार्थी (सांपादक), पंजाबी लोकगीत, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1960, पृ. 333
7. वही, पृ.102
8. एन. कौर, बोल पंजाबण दे (जिलद दूसरी), पब्लिकेशन बिउरो, पंजाबी यूनीवर्सिटी पटियाला, पृ.35
9. वही, पृ.175
10. रंधावा महिन्दर सिंह व देवेन्द्र सत्यार्थी (संपादक), पंजाबी लोक गीत पृ. 279
11. कौर डा. राजवन्त, पंजाबी व्याह दे लोकगीतः विभिन्न परिप्रेक्ष्य लोकगीत प्रकाशन, 2003, पृ0 220
12. वही, पृ.225
13. माधपुरी सुखदेव, शावा नी बंबीहा बोले (पंजावणां दे गोण), चेतना प्रकाशन लुधियाना, 2008,पृ0 16
14. एन.कौर, बोल पंजाबण दे, पृ. 277
15. सिंधु प्रभुशरण कौर, ढोलकी दे गीत, गरेपीयस बुक्स, पटियाला, 2011,पृ.101
16. सिंह डा. नाहर, चन्ना वे तेरी चानणी, पृ. 279
17. सिंधु प्रभुशरण कौर, पंजाब दे मिठड़े बोल, पृ63
18. वही, पृ.323
19. डा. राजवन्त कौर, व्याह दे लोकगीतः विभिन्न परिप्रेक्ष्य, पृ.212
20. सिधु प्रभुशरण कौर, ढोलकी दे गीत, पृ 49
21. कृपाल कजाक, आलोचनाः विशेष अंक, पृ60
22. वही, पृ.130

दक्षिण पूर्वी देशों में रामायण

सुश्री पी. मेदिनी होम्बल

भारतीय सभ्यता की सुगंध न जाने कब से जाने अनजाने चारों ओर बिखर रही है। कई सुदूर देशों में भी हमें भारतीय परंपराओं की झलक दिखाई देती है। विभिन्न विद्वानों ने इस फैलाव के कई कारण बताये हैं। ऐतिहासिक, भौगोलिक और पौराणिक संदर्भों के अनुसार प्राचीन काल में भारतीय सीमाएँ अत्यंत विस्तृत थीं और एक बहुत ही बड़े क्षेत्र को अपने अंदर समेटे हुए थीं।

पौराणिक प्रमाणों के अनुसार प्राचीन भारत जम्बू द्वीप के नाम से जाना जाता था जिसे राजा सगर के पुत्रों ने विभाजित किया, जब वे राजा सगर द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को ढूँढ रहे थे जिसे इन्द्र ने चुरा कर कपिल मुनि के भूमिगत आश्रम में बाँध दिया था। अश्व की इस खोज में सगर पुत्रों ने धरती को खोद दिया जिससे जम्बू द्वीप का भिन्न भागों में विभाजन हो गया। पौराणिक प्रमाणों द्वारा माना जाता है कि संपूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया इसी जम्बू द्वीप का ही एक भाग था।

भौगोलिक प्रमाणों के अनुरूप विभिन्न भूकंप, बाढ़ एवं अन्य प्राकृतिक आपदाओं के कारण भूमि में ऐसी दरारें पड़ीं कि उन्होंने भारतीय धरा को कई खण्डों में विभाजित कर भारत के आसपास कई द्वीप समूहों का सृजन कर दिया। जावा, सुमात्रा, बाली (इण्डोनेशिया) द्वीप समूह प्राचीन भारत का ही एक अंग माने जाते हैं।

ऐतिहासिक प्रमाणों की दृष्टि से भारत में कई विपदाएँ आयी हैं। सिकंदर महान से अफगानियों, तूर्कियों, मुगलों और अंग्रेज़ों तक भारत ने कई आक्रमणों का सामना किया जिससे भारत के इतिहास में कई परिवर्तन आये पर भारतीय सभ्यता ने इन सभी आक्रमणकारियों की विभिन्न सभ्यताओं को अपने अंदर समेट कर अपना बना लिया। इनमें से कई आक्रमणकारियों ने केवल भारत को लूटा पर अन्य कईयों ने भारत को अपना घर बना लिया। दोनों ही रूपों में भारत की विभिन्न परंपराओं का आदान प्रदान हुआ।

कई भारतीय राजाओं ने भी पड़ोसी देशों पर आक्रमण कर अपने राज्य की सीमाओं को विस्तार दिया। यह भी माना जाता है कि परंपरानुसार बड़े राजकुमार को राजगद्दी मिलने के कारण कई बार छोटे राजकुमार पड़ोसी देशों में राज करने के उद्येश्य से वहाँ आक्रमण करते अथवा वहाँ की राजकुमारियों से विवाह कर वहीं बस जाते और कई बार भारतीय राजकुमारियाँ भी अन्य देशों में ब्याही जातीं इस प्रकार सभ्यताओं का आदान प्रदान होता। सभ्यता के इस आदान प्रदान के कारण चाहे जो रहे हों, परिवर्तन चाहे जितने भी हुए हों, अटूट सत्य यही है कि किसी देश की सभ्यता को पूरी तरह से मिटा देना अथवा उसे छिपाए रखना असंभव है।

दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय सभ्यता और रामायण :

माना जाता है कि ईसा मसीह के मृत्यु काल के पश्चात् लगभग प्रथम शती से ही भारतीय परंपराएँ मुख्यतः बौद्ध और हिन्दू परंपराएँ दक्षिण पूर्वी एशिया में प्रमुख रूप से थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया, कम्बोडिया और मलेशिया में फैलने लगीं थीं। सभी देशों की सभ्यताएँ भिन्न होती हैं जो अपने देश को अन्यों से भिन्न और गौरवशाली बनाती हैं किंतु कई बार हमें

व्याख्याता, भरतनाट्यम्, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ - 491881, छ.ग.

इन विभिन्न सभ्यताओं में अपनी परंपराओं की झलक दिखाई दे जाती है। दक्षिण पूर्वी एशिया के कई निवासी आज कई बौद्ध और हिन्दू परंपराओं को स्वतः की परंपराओं के साथ निभाते हैं। सभ्यताओं का यह अद्‌भुत मिश्रण समाज को पीछे नहीं ले जाता वरन् आगे बढ़ने में सहायक सिद्ध होता है। भारतीय विचारों के साथ ही भारतीय महाकाव्यों ने भी इन देशों की धार्मिक और सामाजिक परंपराओं को प्रभावित किया। जिसने भी रामायण और महाभारत महाकाव्यों को पढ़ा वह इनसे प्रभावित हुए बिना न रह सका। दोनों ही महाकाव्य लेखन शैली के अद्‌भुत प्रतिबिम्ब हैं और जन साधारण के सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विचारों को पुष्ट करते हुए समाज में समन्वय और सामंजस्य बिखेरते हैं। भारत इन महाकाव्यों की जन्मस्थली है किंतु आज ये पूरे विश्व की मानवीय, सामाजिक, आध्यात्मिक, सैद्धांतिक और पारंपरिक संपदा के रूप में सहेजे जाते हैं।

महाभारत से भी अधिक रामायण ने दक्षिण पूर्वी एशिया में अपना सौम्य प्रभाव बिखेरा है। जिस प्रकार इन देशों की परंपराओं ने रामायण को अपना एक अभिन्न अंग बना लिया है उसी प्रकार रामायण ने भी इन देशों की विभिन्न परंपराओं को अपने अंदर सहेज लिया है। कथाओं में पाये गये परिवर्तन इन रामायणों को वाल्मिकी रामायण से पृथक बनाते हैं। वाल्मिकी रामायण के अतिरिक्त कथा में पूर्वी और दक्षिणी भारतीय रामायण के अंश प्राप्त होते हैं जिनके साथ उस देश के धार्मिक और परंपरागत विचारों का समन्वय रामायण कथा को नवीन स्वरूप प्रदान करता है। कथा में परिवर्तन प्रत्येक देश में भिन्न है। कभी कभी ये परिवर्तन अंश मात्र होते हैं और कभी इतने विपरीत हो जाते हैं कि हम भारतीय उसे रामायण कथा मान ही नहीं पाते।

भारत में रामायण :

भारत में रामायण और उसकी कथा को कौन नहीं जानता? प्राचीन काल से आज तक रामायण को कई आचार्यों और कवियों ने लिखा है अतः कथा में परिवर्तन स्वाभाविक है किंतु तब भी सामान्य रूप से बिना किसी बड़े परिवर्तन के कथाओं का सार एक ही है । सबसे अधिक मान्यता प्राप्त और प्राचीन है वाल्मिकी रामायण। तुलसीदास जी का रामचरितमानस और दक्षिण भारत में कविवर कम्बन् द्वारा रचित कम्ब रामायण भी लोकप्रिय है। अन्य और भी कई रामायण स्वरूप प्राप्त होते हैं जिनके साथ परिवर्तन भी दिखाई देते हैं जैसे बंगाली रामायण में कैकेयी की पुत्री कुकुआ सीता से रावण का चित्र बनाने को कहती है जिससे राम क्रोध में आकर सीता को वनवास दे देते हैं। किंतु ऐसे परिवर्तनों के होने पर भी कथा सार प्रायः वही है सत्य और निष्ठा के साथ जीवन व्यतीत करना, अपनों के लिये सर्वस्व न्यौछावर कर देना और समाज में अपना गौरव स्थापित करना।

रामायण जन साधारण को अति प्रिय है। रामलीला नामक लोकनाट्य शैली तो पूर्णतया रामकथा ही दर्शाती है कहा जाता है कि इसका प्रारंभ कवि तुलसीदास ने किया था। आज भी देश के विभिन्न भागों में दशहरे के त्यौहार से पहले रामलीला का मंचन जगह जगह पर होता है जिसे देखने के लिये देश विदेश से लोग आते हैं और राम सीता आदि का पात्र निभाते बच्चों के चरण स्पर्श कर स्वयं को धन्य मानते हैं। यह रामायण कथा का सौम्य प्रभाव ही है कि जनसाधारण इतने भाव विभोर हो उठते हैं। घर घर में रामायण का पाठ दैनिक जीवन का अंग है और मन को शांतचित्त करता है। इस प्रकार से रामायण भारतीय जनमानस का एक अभिन्न अंग वर्षों से रहा है और अनन्त काल तक रहेगा।

किंतु यहाँ हम दक्षिण पूर्वी एशिया के कुछ देशों में रामायण के महत्व और प्रभाव पर चर्चा करेंगे और जानेंगे कि किस प्रकार यह वहाँ के जनसाधारण को प्रिय बन गया है।

मलेशिया में रामायण :

मलेशिया में रामायण संभवतः छाया नाट्य वायांग कुलित के साथ जावा के व्यापारियों द्वारा पहुँचा। मलेशिया के प्रमुख रूप से इस्लामिक व अन्य धार्मिक विचारों, परंपराओं और राजनीति को रामायण में मिश्रित करते हुए यहाँ रामायण का एक नया स्वरूप उभर कर आया जिसे हिकायत सेरि राम के नाम से प्रसिद्धि मिली। भारतीय रामायण के विपरीत इसका स्वरूप आध्यात्मिक न हो कर

मनोरंजनात्मक है जिसके द्वारा यह निष्काम प्रेम, निष्ठा और भक्ति का पाठ पढ़ाता है। रामायण के अन्य रूप **चेरित महाराज वान** भी प्राप्त होता है। दोनों ही लगभग 16वीं शती के अंतिम काल या 17वीं शती के प्रारंभिक काल में लिखे गये हैं।

कथा में कई रोचक और आश्चर्यजनक परिवर्तन दिखाई देते हैं जैसे कैकेयी के कहने से सीता महाराज रावण का चित्र बनाती है, राम क्रोध में आकर सीता को मार मार कर अधमरा कर देते है और उसे वन भेज देते हैं। कथा के अंत में राम सीता को वापस लाने का प्रयास करते हैं तब सीता उनसे अपनी कई इच्छाओं की पूर्ति करवाती है और तब वापस लौटती है।[1] मलेशिया रामायण में हनुमान को राम व सीता का पुत्र[2], दशरथ को पैगम्बर एडम का प्रपौत्र मानते हैं और ब्रह्मा के स्थान पर अल्लाह द्वारा रावण को वरदान प्राप्ति का उल्लेख करते हैं।[3]

हिकायत सेरि राम में कुम्भकर्ण की मृत्यु के पश्चात् 40 दिनों का शोक मनाने के निर्देश भी हैं क्योंकि मलेशिया राज्य के राजकीय नियमानुसार सिंहासन के उत्तराधिकारी की मृत्यु के पश्चात् 40 दिनों का शोक मनाना अनिवार्य है। यह वहॉ की परम्परा में रामायण के सरल सम्मिश्रण हेतु किया गया एक अन्य परिवर्तन दर्शाता है।[4] आज भी मलेशिया सुल्तान का दूसरे पुत्र को आदर सहित लक्ष्मण कहते हैं, राजगद्दी को सिंहासन कहते हैं और देश का राष्ट्रपति **सेरि पादुका धुली** अर्थात् राम की चरण पादुकाओं की धूल के नाम पर वचनबद्ध हो कर कार्यभार संभालता है।[5]

इस प्रकार असत्य पर सत्य की विजय को दर्शाते हुए भी पात्रों के दैवीय स्वरूप को परिवर्तित कर ईर्ष्या, द्वेषादि दोषों द्वारा मानवीय बनाया गया जिससे कि वे जनसाधारण के समीप आ सकें। साथ ही ईसाई और मुस्लिम धर्मों के नियमों को भी जोड़ा गया जिससे कि कथा में न केवल एक नवीनता आये वरन् अन्य धर्मों के लोग भी इसे सरलता से अपना सकें।

इन्डोनेशिया में रामायण :

जावा, सुमात्रा और बाली इन्डोनेशिया के प्रमुख द्वीप हैं जहॉ कई राजवंशों ने रामायण को हिन्दू, बौद्ध और फिर इस्लाम धर्मों के अनुरूप परिवर्तित कर अपनाया और बढ़ावा दिया जिनमें से जावा के शैलेन्द्र वंशी और ईशान वंशी शासक तथा सुमात्रा के श्रीविजय वंश के शासक प्रमुख हैं। यहॉ जो सबसे पहला रामायण का रूपांतरण मिलता है वह है 9वीं शती में प्राचीन जावी भाषा में योगेश्वर द्वारा रचित **योगेश्वर रामायण** । इसमें संस्कृत और कावी भाषा के मिश्रिण मणिप्रवल शैली में रचे गये 2774 बन्ध मिलते हैं।[6] भट्टीकाव्य के नाम से लोकप्रिय कविवर भट्टी द्वारा रचित रावण वधम् ने इन्डोनेशिया रामायण को अत्यंत प्रभावित किया है। बाली में संस्कृत भाषा में 22 बन्धों में रचा रामकवच प्राप्त होता है जिसके कुछ अंश वाल्मिकी रामायण के अंशों के समान हैं।[7]

यहॉ रामायण कथा में अधिक परिवर्तन भी प्राप्त नहीं होता। भारतीय रामायण की कुबड़ी कुरूप मंथरा यहॉ सीता के समान सुंदर है, हनुमान (श्वेत वानर) एक ऐसे नायक रूप में वर्णित है जिसकी सहायता के बिना राम सीता को ढूँढ ही नहीं पाते, वह न केवल दूत है वरन् विदूषक और अभूतपूर्व योद्धा भी है। इन्डोनेशिया नाट्य प्रस्तुतियों में तो राम से भी अधिक प्रिय पात्र हनुमान का है।[8]

लाओस में रामायण :

लाओस में **निथान नांग तन्ताई** के नाम से प्रसिद्ध पंचतंत्र कथाओं के साथ रामायण कथा मिला दी गई है और बच्चों को नैतिक शिक्षा देने के लिये इन कथाओं का प्रयोग किया जाता है। मेंढकों द्वारा सर्प को अपने ताल में शरण देने से मना करने वाली कथा में सर्प रामायण कथा सुनाता है कि किस प्रकार राम ने विभीषण को शरण दी थी जबकि वह उनके शत्रु का भाई था अतः आवश्यकता पड़ने पर शत्रु को भी शरण देना चाहिये। इसी प्रकार राम को समुद्र पर पुल बनाने में गिलहरियों द्वारा की गई सहायता वाली कथा का प्रयोग यह दर्शाने के लिये किया जाता है कि किस प्रकार छोटे और दुर्बल भी मेहनत से बड़े से बड़ा कार्य भी कर सकते हैं।

रामायण कथा अंशों को जिस चतुराई के साथ इन नैतिक कथाओं के साथ जोड़ दिया गया है यह

न केवल लेखक की प्रतिभा को स्पष्ट करता है वरन् यह भी दर्शाता है कि बड़ों से लेकर बच्चों तक सभी रामायण कथा और उसके विभिन्न पात्रों को जानते भी हैं और जीवन के एक अभिन्न अंग के रूप में स्वीकार भी करते हैं।[9]

कम्बोडिया में रामायण :

कम्बोडिया की ख्मेर संस्कृति भारतीय और वहाँ की स्थानीय संस्कृति का मिश्रण है। रामायण का वास्तविक स्वरूप यहाँ हिन्दू परंपराओं के साथ दक्षिण भारत से आया पर धीरे धीरे बौद्ध संस्कृति का सम्मिश्रण इसमें होता चला गया। 16वीं या 17वीं शती में लिखा गया ख्मेर रामायण का प्रारूप **रिएमकर** कहलाता है।[10] यह रामायण का प्रभाव ही है कि कम्बोडिया का प्रमुख कठपुतली छाया नाट्य **नांगस्बेक** केवल रिएमकर की कथाओं को और राम के जीवन के विभिन्न अंशों को प्रस्तुत करता है। थाईलैण्ड रामायण का प्रभाव भी कम्बोडिया में हुआ है जिस कारण दोनों में कई समानताएँ हैं।[11]

कथा लगभग समान ही है किन्तु पात्रों के नाम कुछ परिवर्तित हैं। जैसे फ्रा राम (श्रीराम), फ्रा लक (लक्ष्मण), नांग सीदा (सीता), सोफानखा (शूर्पणखा), दानव रिएप (रावण) आदि। कुछ नवीन कथा अंश और पात्र भी जोड़े गये हैं जो कम्बोडिया संस्कृति दर्शाते हैं किन्तु भारतीय रामायण में नहीं हैं जैसे **हनुमान और सोवान मच्छा (जलपरी) का मिलन** - सेतु बनाते समय हनुमान पाते हैं कि समुद्र की जलपरियाँ पत्थर चुरा रही हैं वे उनकी राजकुमारी को पकड़ने का निर्णय करते हैं किन्तु उससे प्रेम करने लगते हैं, नांग सोवान मच्छा भी उनके प्रेम को स्वीकार करती है और सेतुबंध में बाधा डालना बंद कर देती है।[12]

रिएमकर में विश्वास, निष्ठा, प्रेम, प्रतिशोध आदि भाव नाटकीय रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। राम को विष्णु का अवतार अवश्य माना गया है किन्तु उनका स्वरूप दैवीय न होकर मानवीय है और जनसाधारण के अधिक निकट है। इस परिवर्तन द्वारा समाज में सरल रूप से रामायण को अपनाया गया है।

म्यांमार में रामायण [13]:

म्यांमार की संस्कृति भारतीय, ख्मेर और थाईलैण्ड की संस्कृतियों से प्रभावित है। भारत के अतिरिक्त सियामिस (थाई) बंधकों के साथ नाट्य रूप में रामायण यहाँ पहुँचा क्योंकि इन बंधकों में कुछ नाट्य कलाकार भी थे जो राजाओं के मनोरंजन हेतु कठपुतलियों द्वारा और कलात्मक मुखौटे लगाकर रामायण कथा प्रस्तुत करते थे। धीरे धीरे ये प्रस्तुतियाँ इतनी लोकप्रिय हो गईं कि देश के कोने कोने तक पहुँच गईं और साथ ही रामायण को भी जनमानस के बीच प्रसिद्ध करती गईं। कथा में अधिक परिवर्तन नहीं है, रावण दसगिरि कहलाता है, मारीच के स्थान पर दसगिरि की बहन सीता के हरण हेतु स्वर्ण मृग का रूप धर अपने भाई की सहायता करती है और सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह है कि बौद्ध संस्कृति के प्रभाव के कारण राम को विष्णु के स्थान पर बुद्ध का अवतार माना गया है जिससे समाज में राम को सरलता से अपनाया जा सके।

थाईलैण्ड में रामायण :

थाईलैण्ड में रामायण को रामाकियेन के नाम से जानते हैं और यह यहाँ इतना लोकप्रिय है कि वहाँ माना जाता है कि रामायण का उद्भव भारत में नहीं वरन् थाईलैण्ड में हुआ था। कथा में भी थाई मान्यताओं के अनुरूप कई प्रमुख परिवर्तन किये गये हैं जिससे कथा का स्वरूप दैवीय नहीं रहा और बौद्ध धर्म के थाईलैण्ड में अधिक प्रभाव के कारण राम को एक थाई राजकुमार माना गया है जो पूर्व जन्म में बुद्ध थे।[14] लिखित प्रमाणों के अनुसार रामाकियेन सुखोथाई वंश के राजा रामकाम्हेंग के समय काल में प्रचलित होना प्रारंभ हुआ जब पत्थरों पर राम सीता से संबंधित अंश उकेरे गये। रामाकियेन का प्रथम रूपांतरण जो प्राप्त हो पाया है वह है थोनबुरी काल के राजा ताक्सिन (1767ई.-1782ई.) द्वारा लिखा गया है। रामाकियेन का जो एकमात्र पूर्ण रूपांतरण प्राप्त है वह बैंग्कॉक काल के राजा राम प्रथम द्वारा रचित है।[15]

कथा का प्रारंभ स्वर्ग में बताया गया है जहाँ नोन्तुक नामक एक दैत्य रक्षक का विष्णु वध करते

हैं और वही धरती पर तोसाकान्त (रावण) के रूप में जन्म लेता है। सीता को रावण और मंदोदरी की पुत्री बताया गया है जिसका परित्याग कर दिया जाता है और वह चानोक (जनक) को प्राप्त होती है। जहॉ वाल्मिकी रामायण का अंत सीता के धरती में समाहित हो जाने से होता है वहीं थाईलैण्ड रामाकियेन में सीता त्याग के पश्चात् पुनः देवताओं की सहायता से राम सीता का मिलन होता है। इसी प्रकार से कथा में कुछ ऐसे अंशों को भी जोड़ा गया है जो भारतीय रामायण में प्राप्त नहीं होते। मुख्य रूप से ये कथांश हनुमान से संबंधित हैं।

थाईलैण्ड में भी राम से भी अधिक लोकप्रिय पात्र हनुमान का है जो न केवल चतुर, निष्ठावान और वीर योद्धा है वरन् एक विलासी प्रेमी भी है और भारतीय विश्वासों का पूर्णतया खण्डन करते हुए एक नहीं पॉच विवाह करता है। फिफेक (विभीषण) की पुत्री बेन्यकाई और तोसाकान्त व एक मतस्यकन्या की पुत्री सुपानमच्छा दोनों ही हनुमान की पत्नियॉ हैं और युद्ध में राम की सहायता करती हैं।[16] इस प्रकार से लोक धारणाओं को जोड़ते हुए रामायण को थाईलैण्ड में एक नया ही स्वरूप मिला है और यह महाकाव्य वहॉ की संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गया है।

दक्षिण पूर्वी देशों में रामायण का प्रभाव :

1. थाईलैण्ड के राजाओं को राम की उपाधि दी जाती थी और देश में एक वंशकाल के शासन में तो राजधानी का नाम ही अयुत्थया (अयोध्या) था।
2. इन्डोनेशिया में आज भी बच्चों के जन्म के समय पवित्र रीतियों के एक अंश के रूप में रामायण के श्लोकों का पाठ कावी भाषा में किया जाता है।
3. विद्यालयी शिक्षा में पाठ्यक्रम का एक अभिन्न अंग रामायण कथाएँ हैं।
4. दक्षिण पूर्वी एशिया के लगभग सभी नाट्य कलाओं द्वारा प्रस्तुत लोक कथाओं में से एक प्रमुख अंग रामायण भी है। इन नाट्य कलाओं में मानवीय नाट्य प्रस्तुतियॉ और कठपुतलियों द्वारा सजीव व छाया नाट्य प्रस्तुतियॅा भी सम्मिलित हैं। कुछ प्रसिद्ध नाट्य शैलियॅा हैं-
   1. थाईलैण्ड का खोन्।
   2. इन्डोनेशिया के वायांग कुलित (कठपुतली छाया नाट्य), वायांग गोलेक (कठपुतली नाट्य) और वायांग ओरांग (मानवीय नाट्य)।
   3. म्यांमार के योख्ते प्वे (कठपुतली नाट्य) और मुखौटेदार मानवीय नाट्य।
   4. कम्बोडिया के नांगस्वेक (विशाल कठपुतली नाट्य) और इन्डो चीनी नाट्य।
5. नाट्य कलाओं में रामायण की प्रस्तुतियों में विभिन्न प्रकार के मुखौटों और कठपुतलियों का प्रयोग होता है जिनके निर्माण कार्य में कई कारीगरों को धनार्जन के अवसर प्राप्त हुए हैं।
6. कई प्राचीन और नवीन मंदिरों की दीवारों पर अंकित भित्ति चित्रों में रामायण के विभिन्न अंशों को जिस कुशलता से दर्शाया गया है वह स्पष्ट करता है कि रामायण इन देशों का कितना अभिन्न अंग बन चुका है। कुछ प्रसिद्ध मंदिर इस प्रकार हैं -
   1. जावा, इन्डोनेशिया के प्रम्बनन् मंदिर में प्रारंभ से लेकर वानरों के लंका पहुॅचने की रामायण कथा दर्शाते 42 पट्ट हैं।[17]
   2. थाईलैण्ड के एमरल्ड बुद्ध मंदिर में संपूर्ण रामायण कथा दर्शाते भित्ति चित्रों के 178 खण्ड हैं।
   3. थाईलैण्ड के बीमय मंदिर में एक खण्ड चित्र में इन्द्रजीत द्वारा राम लक्ष्मण को मायावी सर्पों द्वारा बांधने का दृश्य अंकित है।
   4. कम्बोडिया के अंगकोर वाट मंदिर में संपूर्ण रामायण bas relief अंकित है। सबसे अद्भुत दृश्यांकन युद्ध दृश्यों और सीता की अग्नि परीक्षा के अंशों का है।
   5. कम्बोडिया के बन्ताई स्रेई मंदिर में एक दृश्य bas relief में राम द्वारा बाली को बाण से वेधने का वर्णन किया है।[18]

निष्कर्ष :

रामायण दक्षिण पूर्वी देशों में निवास करने वाले लोगों के दैनिक जीवन का एक अटूट अंग बन गया है और इस कथा के ताने बाने उनकी परंपरा और संस्कृति में इस सूक्ष्मता से बुन गये हैं कि उन्हें अलग कर पाना असंभव है। वहॉ रामायण, अपने आध्यात्मिक गुणों से अधिक नैतिक मूल्यों, सम्मान, एकता, गरिमामयी आचरण, स्वदेश के प्रति कर्तव्य परायणता और सभी के प्रति आदर भाव के आदर्शों को व्यक्त करने वाले अभूतपूर्व साधन के रूप में अधिक लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। रामायण नयी पीढ़ी को राम के रूप में एक आदर्श पुत्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के रूप में आदर्श भाई, सीता के रूप में आदर्श नारी और पत्नी तथा हनुमान के रूप में आदर्श भक्त के गुण सिखाता है।

पश्चिमी देशों के कुछ विद्वानों को आश्चर्य होता है कि एक ऐसी पौराणिक अथवा मिथक कथा जो माया और मायावी प्राणियों से भरपूर है वह इतने सारे देशों के निवासियों को कैसे लुभा सकती है? कैसे इतने सारे देशों की संस्कृति का अटूट अंग बन सकती है? इस प्रश्न का उत्तर शायद यह हो सकता है कि रामायण एक एसी कथा है हर आयु के लोगों, अलग सोच रखने वाले लोगों को भी लुभा सकती है। किसी को इसका आध्यात्मिक पहलू रुचिकर लगता है तो किसी को केवल कहानी के रूप में ही यह भाता है, कोई किसी पात्र में स्वयं को ढूँढ लेता है तो कोई कथा पर शोध करने लगता है। कारण चाहे जो हो आज यह भारत के अतिरिक्त दक्षिण पूर्वी देशों और कुछ रूप में पश्चिमी देशों में भी प्रतिष्ठित हो चुका है।

मलेशिया का प्रमुख धर्म इस्लाम है, थाईलैण्ड, कम्बोडिया और अन्य देशों में बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार है, कुछ स्थानों पर ईसाई धर्म ने अपना प्रभाव छोड़ा है किंतु फिर भी रामायण ने इन सभी देशों पर जो वैश्विक पकड़ बनाये रखी है वह अद्‌भुत है और यह दर्शाती है कि हमें नैतिकता और सच्चाई का पाठ पढ़ाने वाले किसी भी अभूतपूर्व साहित्य को, चाहे वह किसी एक धर्म से संबंध रखता हो , संपूर्ण विश्व में फैलने से कोई धर्म कोई सीमा रेखा नहीं रोक सकती। कथा में चाहे जैसे भी परिवर्तन किये गये हों कथा की जड़ें भारतीय पौराणिक मान्यताओं में और इस प्राचीन विश्वास में है कि सत्य की सदा विजय होती है। एक प्रकार से इन देशों की रामायण में भारतीय सभ्यताओं ने एक नया आवरण पहन लिया है जो सदा हमें लुभाता है और भारतीय संस्कृति के विशाल स्वरूप को समझने में भी सहायता करता है।

संदर्भ सूची :

1. Mahulikar Dr. Gauri, The Effect of Ramayana on various Cultures and Civilisations, pg. 2.
2. S. Singaravelu The Literary version of Rama story in Malay, article in CIRSW .
3. Mahulikar Dr. Gauri,The Effect of Ramayana on various Cultures and Civilisations
4. T. Goudriaan, Sanskrit Texts and Indian Religion in Bali pg. 562.
5. Agrawal Dr. Archana, The Ramayana
6. Rakasmani Kusum, The Story of Rama in Lao Folktale, pg. 72.
7. http://www.asiasociety.org
8. http://www.wikipedia.org
9. http:èèwww.asiasociety.org
10. http://www.wikipedia.org
11. Khon: H. H. Prince Dhaninivat & Dhanit Yupho pg. 10.
12. http://www.mahidol.ac.th
13. Kiriwat Amolwan, Khon: Masked Dance Drama of Thai Epic Ramakien M.A. Research Thesis, Chulalongkorn University, Thailand. pg. 6
14. Mahulikar Dr. Gauri, The Effect of Ramayana on various Cultures and Civilisations, pg. 5.
15. Mahulikar Dr. Gauri, The Effect of Ramayana on various Cultures and Civilisations, pg. 5.

एक या दो स्वरों में राग का अनन्त

डॉ संजय कुमार सिंह

भारतीय वांग्मय में प्रत्येक विषय का इतना गहन, विस्तृत और सांगोपांग वर्णन मिलता है कि हम पूर्वाचार्यो के प्रति नतमस्तक हो जाते है। हम स्वर को ही लें तो 'स्वर' के रंग, देवता और रस बतायें गये है। दैनिक व्यवहार में हम पाते है कि, संसार में शब्द से अधिक हम स्वर के ही आश्रित है। केवल मनुष्य ही नहीं पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सभी जीवों का व्यवहार स्वर से ही संचालित है।

अभिनय के साथ व्यवहार में भाषा के अतिरिक्त यदि कुछ है तो वह स्वर ही है। जैसे एक शब्द 'हँ' को स्वर भेद से अनेक भावों में देखा सुना जा सकता है। आश्चर्य, प्रश्न, स्वीकार, अस्वीकार, निराशा, व्यंग्य, तिरस्कार, घृणा, आदि ये सब स्वर की अनन्ता है।

स्वरों का आपसी संवाद, स्वरों की स्थिति जैसे- मन्द्र-मध्य-तार, स्वरों के उच्चार की गति जैसे द्रुत-मध्य-विलम्बित, स्वरों को अन्य स्वरों का श्रुत्यन्तर, स्वरों का उच्चारण यानी काकु भेद, इन सब बातों के कारण एक ही स्वर समूह में अनेक राग तथा भाव-वैविध्य संभव है। जिसकी गहराई सागर से भी अधिक तथा व्यापकता आकाश से भी ऊँची है। ऐसे स्वर के सामर्थ्य के बारे में सभी विज्ञ है अतः जितना भी कहा जाय सब थोड़ा ही होगा।

संगीत जैसी दिव्य, अमूर्त, अद्‌भुत कला का प्राणतत्व व्यवहार का नियामक तथा जगत् का अधिष्ठाता 'स्वर' जब विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अन्तरालों के साथ, व्यवस्थित नियमों के अंतर्गत तथा प्रस्तुति- विषयक गुरू-आज्ञा के साथ 'राग' में मुखरित होगा तब राग रंग और ताल तथा 'भाव-रस' की कैसी-कैसी अनोखी छटा बिखेरने को सक्षम होगा, यही तो स्वर में राग का अनन्त है।

जैसा कि हम जानते हैं, सप्त स्वरों में ही दक्षिण के 72 मेल उनके अनेक राग भी है और अनेक राग बनते भी जा रहे है। इसी प्रकार उत्तर भारतीय संगीत में भी अनेक राग हैं और जैसे-जैसे आदमी की कल्पना बढ़ती जा रही है। उसी प्रकार और भी राग बनते जा रहें है।

अगर हम सात स्वरों को न लें तब भी छः स्वर को लेकर, पांच स्वर को लेकर अनेक रागों की रचना हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत में है। जिसे हम संम्पूर्ण जाति के राग, षाड़व जाति के राग, औड़व जाति के राग आदि के नाम से जानते हैं। इनमें हर जातियों में अलग-अलग भिन्न-भिन्न राग समूह पाये जाते है। हम यह भी देखते है कि केवल दो या तीन स्वरों के विशेष उच्चार से भी अनेक रागों की झलक मिलती है।

जैसे- हम केवल पंचम और ऋषभ स्वर जोड़ी को लेते हैं।

(1) प रे म ग रे नि़ ध़ नि़ रे सा (यमन)

(2) ध प ग प रे सा (शुद्ध कल्याण)

(3) रे ग म नि ध प रे ग म रे सा (छायानट)

(4) ग म ध प रे सा ग म (नन्द)

(5) ग रे म ग प रे सा (गौड़ सांरग)

इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार से प-रे का उच्चारण या लगाव भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूति करायेगा।

इसी तरह प और रे का उल्टा स्वरूप रे-प स्वर जोड़ी का प्रयोग विभिन्न रागों में भिन्न प्रकार से होगा।

असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत संकाय, राजा मानसिंह तोमर संगीत एवं कला विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)

जैसे- मल्हार रागों 'में' रे^{म} प की संगति, राग कामोद में रे^{म} प की संगति, राग श्री में केवल ऋषभ को कोमल कर देने से सा $\underline{रे}$ प $\underline{रे}$ ग $\underline{रे}$ सा $\underline{रे}$ की संगति से अलग-अलग भाव उत्पन्न होगा।

इसी तरह और भी बहुत सी स्वर जोड़ियाँ ऐसी है कि एक ही स्वर समूहों में स्वरों के विशेष लगाव से अनेक रागों का दर्शन होता है। जैसे- राग मारवा के नि़ $\underline{रे}$ ग में ही पूरिया, सोहनी आदि। और पूर्वी राग के स्वर में बसन्त, परज, पूरिया धनाश्री आदि रागों की झलक मिलती है।

जैसे- गागर में सागर समाया है। उसी प्रकार सप्त स्वरों में ही संगीत का संसार बसा हुआ है।

चाहे वह विश्व में कहीं का भी संगीत हो सभी सात स्वरों में ही गाये बजाये जाते हैं।

हर एक नगर, प्रांतों, ग्रामीण-अंचलों की लोकधुनों में ही राग छिपे होते है जो कि ढूढ़कर शास्त्रीय संगीत के रूप में प्रस्तुत कर दिये जाते है। श्री कुमार गंधर्व जी का कथन है, कि लोक संगीत का निर्माण स्वाभाविक है, इसको समझकर जब हम विश्लेषण करते हैं और नियमबद्ध कर देते हैं तब यह शास्त्रीय संगीत का रूप ले लेता है।

जैसी-जैसी मनुष्य की कल्पना होती है, वैसे-वैसे और भी राग और धुनें बनती जा रहीं है।

उत्तर प्रदेश के कजरी प्रकार में एक सावनी लोकधुन इस प्रकार है, इसमें भी राग तत्व छिपे हुए है।

"असुअन से लिखतानी पतिया, (सवनवा में आ जइह-2) सजना निदियों ना आवे सारी रतिया
(1) माटी मांगें बदरा से, हिक भर पानी, (कइसे कही का माँगे जिन्दगानी-2) हाय राम गिरल जाले असरा की मितिया हाय-राम
(2) छुटिया मिले ना बिन पगार चलि आवा, अब तजि बम्बई बाजार चलि आवा हाय राम डर लागे लइहा ना सवतिया हाय

जैसे संसार में इतने लोग है सबका नाम हम नहीं जानते, सबका परिचय नहीं जानते, इसका मतलब वो आदमी नहीं हैं ऐसा नहीं है। उसी प्रकार इस संसार में अनेक धुनें हैं, जिनके हम नाम भी नहीं जानते है, अनेक धुनों को राग का नाम भी नहीं दे पायें है न ही सबका नाम देना सम्भव है। किसी भी धुन को पहचानने के लिए नाम दिया जाता है। जैसे बच्चा पैदा होता है तब उसका नामकरण किया जाता है। उसी प्रकार जब कोई धुन बन जाती है तो हम उसका नाम देतें है।

अतः यह सर्वविदित है कि असीमित रूप से संगीत का संसार इन सात स्वरों में ही भरा हुआ है।

यही स्वरों में राग का अनन्त है।

कुछ संगीतज्ञों का तर्क रहता है कि, क्या यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक राग को पारम्परिक किसी रस (जिनका प्रयोजन नाट्य के संदर्भ में सर्वथा सुस्पष्ट है) के साथ जोड़े? क्या राग मालकौंस में शान्त रस की जगह बीर रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती?

संगीत जैसी अमूर्त और चल कला में उसकी Sulajeetive वैयक्तिक विशेषताओं के कारण जिसके द्वारा होने वाली आनन्दानुभूति को शब्दों में समझाना या शीर्षक दे देना बहुत कठिन है वहाँ तो यही कहना उचित है कि,

जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरति तिन्ह देखिय तैसी।।

पंजाबी लोक संगीत की वर्तमान प्रासंगिकता

कुलविन्दर सिंह

वर्तमान समय विज्ञान और तकनीकी सूचना का समय है। विज्ञान की ज्ञानवर्धक खोजों ने आज प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रभावी भूमिका निभाई है। इन खोजों के कारण आज प्रत्येक वस्तु एक नवीन रूप में अपना अस्तित्व स्थापित कर रही है। वैज्ञानिक खोजों ने यहां एक ओर मानवीय जीवन को उत्कृष्टता प्रदान की है तो वहीं दूसरी ओर बहुत सारे पहलुओं ने उसे अपनी परम्परा से वंचित भी कर दिया है।

आज पूरा विश्व 'ग्लोबलाईजेशन' का हिस्सा बनना चाहता है। ग्लोबलाईजेशन के इस दौर में प्रत्येक प्राणी पदार्थ की उत्कंठा रखते हुए इसकी व्यापारिक मंडी को अपनाना चाहता है। यह 'ग्लोबलाईजेशन' की धारा पश्चिम की वस्तीवादी चिन्तन प्रक्रिया से उत्पन्न होकर अपने बनाए हुए मापदंडों के माध्यम से और व्यापारिक मंडी की चकाचौंध भरे दृश्य दिखाकर सम्पूर्ण विश्व की मानसिकता को गुलाम बनाते हुए उनकी सांस्कृतिक धरोहरों को अपनी गिरफ्त में ले रही है। जिसके परिणामस्वरूप आज प्रत्येक देश व समाज अपनी इन धरोहरों की अमूल्य निधियों को इस व्यापारिक मंडी में उतार रहा है।

ग्लोबलाईजेशन की इस दौड़ में पंजाब प्रदेश भी पीछे नहीं रहा। आज पंजाब की अमूल्य लोक संगीत परम्परा का वर्तमान समय के गायकों व वादकों के द्वारा नवीनीकरण कर उसे इस मंडी का हिस्सा बनाया जा रहा है। देखा जाए तो सूचना तकनीक के लगभग 1940 ई. से 1990 ई. तक के दौर (ग्रामोफोन, तवे, कैसेट) तक इस विशाल धरोहर ने अपनी शुद्धता और पारम्परिक मूल्यों को कायम रखते हुए विश्व भर में अपनी पहचान बनाई जिनमें इनायत कोटीया घुमियार, सुरिन्दर कौर, जगमोहन कौर, लाल चंद यमला जट, गुरमीत बावा, टुंडा फज़ल जगरावाँ वाला इत्यादि कलाकारों ने विशेष भूमिका निभाई है। इस समय तक पंजाबी इन सांस्कृतिक मूल्यों को अपने जीवन के प्रत्येक खुशी-ग़म के कार्य में महत्त्व देता रहा है किन्तु इसके पश्चात यहां एक ओर पंजाबी समाज में इसका गायन-वादन का विधान घटा है वहीं दूसरी ओर इस परम्परा की समस्त विधाओं में भी बदलाव आया है। जहां इस परम्परा के साहित्य पक्ष, पेशकारी व अदाइगी में आए बदलावों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

साहित्य पक्ष

संगीत परम्परा चाहे वो शास्त्रीय हो, आध्यात्मिक हो या लोक इन सभी धाराओं में गायन की प्रधानता रहती है और गायन में विभिन्न छन्द प्रबन्धों के अन्तर्गत पद रचनाएं होती हैं। पंजाबी लोक संगीत में भी लोक मन की समस्त भावनाओं से लबरेज़ होकर सहज-स्वभाव से प्रस्फुटित हुए गीत लोक गीत के नाम से इस परम्परा की तर्ज़मानी करते हैं। इन गीतों में उनके जीवन की पारिवारिक, सामाजिक अथवा धार्मिक परम्परा से जुड़ी समस्त भावनाओं को सीधी-सादी, ठेठ व अर्थ भरपूर शब्दावली से अभिव्यक्त किया जाता है। यह तथ्य तो जगत प्रसिद्ध है कि पंजाबी अपने जीवन का प्रत्येक क्षण हँसता गाता और नाचता हुए व्यतीत करता है। इसलिए जहां की सांस्कृतिक धरोहर में वीर गाथाएं, किस्से, जन्म से मौत तक के सांस्कृतिक गीत, ऋतु

शोध छात्र, संगीत विभाग, गुरु नानक देव यूनीवर्सिटी, अमृतसर, पंजाब।

सम्बंधी गीत, मेले व त्योहारों से सम्बंधित गीत व फुटकर गीत इत्यादि के रूप में हज़ारों गीत कंठ से कंठ तक आगे बढ़ते हुए विकास की धारा पर प्रवाहित होते रहे हैं। इन गीतों में प्रकृति, पशु-पक्षी व सामाजिक पहलुओं से जुड़ी प्रत्येक वस्तु को प्रतीक के रूप में प्रयुक्त करते हुए पंजाबी मन में सृष्टि की हर रचना के प्रति प्रेम, सदभावना, श्रद्धा को व्यक्त करने के साथ-साथ मानवीय कीमतों की उच्चता को भी बरकार रखा जाता था। लेकिन आज पदार्थवादी युग में नवीन गायक इन गीतों में निम्न वर्ग की और विदेशी भाषा की शब्दावली का प्रयोग कर इसकी नुमाईश कर रहा है। उदाहरण हेतु कुछ बानगियां प्रस्तुत हैं-

पारम्परिक गीतों में साहित्य

छल्ला : छल्ला बेरी पूरे वे वतन माही दा दूरे,कि जाणा पहले पूरे वे गल सुण छल्लिया छोरा, वे काहतों लाया ई झोरा।

जुगनी : औखी कार फकीरी वाली, चड़ सूली ते बहिणा। दर दर तों सौ टुकड़े मंगणे, माइए भैणे कहणा। की मियाद ए बंदिया तेरी जो बणिया सो ढहणा। पीर मेरिया उ जुगनी कहिंदी आ, उ नाम गुरां दा लैंदी आ।[1]

जग्गा : जग्गे मारिया लैलपुर डाका बई जग्गे मारिया।जग्गे मारिया लैलपुर डाका कि तारां खड़क गईयां जग्गेयावे तुर परदेस गएओं बूहा वजिया।

बोलियाँ : 1. नच्चण वाले दी अड्डी न रहिंदी, गौण वाले दा मुँह, हाणीया टाहली ते घुग्गी करे घूँ-घूँ।[2]

2. माए नी मैनू जुत्ती सवा दे हेठ लुआ दे खुरीयाँएह दिन खेडण दे सस्सां ननाणां बुरीयाँ।[3]

आधुनिक गीतों में साहित्य

1. छल्ला : छल्ला इंडिया तो आया, वे ज़िंदड़ी नू कम ते लायाओ दिल नू खिच्चदी माया, रात दिन टैक्सी चलाऊँदा, वे मोटे डालर कमाऊँदा, ओ छल्ला।

टैणै-णै-टैणै-णै, टै-णै-णणै—Tell me but you thinking about tonightI wanna do everything wanna do it right.May be I could help you free your mindOpen the door and let me in, and I can take upon it.....[4]

2. जुगनी - जुगनी करे वलायती डांस, लड़दा नित नवां रोमांस,मिलदा माया राम नू चांस, ओए वीर मेरिया जुगनी, बल्लेवीर मेरिया जुगनी चांदी दी मैं तोर पछाणा जांदी दी।[5]

3. जग्गा - जग्गा पड़न वलायतीं आया बई जग्गा पड़न होए,जग्गा पड़न वलायतीं आया ते ऐथे आके भांडे मांजदा पूरणा ते अखियां च रब्ब वसदा कोई दूर ना।[6]

4. बोलियां - 1. बारी बारी बरसी खटणे नू घल्लिया, खट के लियांदी चुन्नीमैं होया इक्कीयां दा तेरी उमर हो गई उन्नी।[7]

2. बारी बारी बरसी खटणे नू घल्लिया खट के लियांदी खीरजोश नाल पांवे बोल्लियां, जद नच्चदी गिद्दे विच हीर।[8]

पेशकारी

पंजाबी लोक संगीत विद्या की पेशकारी में आए बदलावों को समझने के लिए इसकी सम्पूर्ण कार्य प्रणाली को मुख्य रूप में दो भागों में बांट कर देखा जा सकता है।

1. गायन पक्ष 2. वादन पक्ष

गायन पक्ष

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि किस्से, वीर गाथाएं, सांस्कृतिक, फुटकर इत्यादि गीत पंजाबी लोक विरासत की अमूल्य विधाएं रही हैं परन्तु यह बात बड़े शोक से कहनी पड़ रही है कि आज इनमें से बहुत सी विद्याएं तो लोक संगीत परम्परा के परदे से लगभग ओझल हो चुकी हैं और जो परदे पर हैं उनमें बहुत से बदलाव आ चुके हैं। पंजाब की लोक गायन परम्परा में यहां सहज, सरल और रवानगी पूर्ण धुनों का गायन किया जाता था। वहीं शब्दों का शुद्ध उच्चारण, विशेष ठहराव व लम्बी टेक इनकी विशेषताएं होती थी। आज इसके साहित्य पक्ष के साथ-साथ व्यर्थ आलाप, सरगम, तानें, मुर्कियों को प्रयोग कर शास्त्रीय गायन अंग की प्रबलता दिखाई पड़ने लगी है। इसके साथ आज इन गीतों में रैप, पॉप, जैज़ आदि विदेशी गायन शैलियों का प्रभाव भी

प्रत्यक्ष रूप में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए- गायिका अनामिका के द्वारा पंजाबी का एक गीत "काला शाह काला, मेरा काला ए सरदार" गाया गया जिसका प्रारंभ "Blackish Black - Blackish Black" से किया गया है। इसके अतिरिक्त गायक दिलजीत दुसांझ का "मलकी कीमा", रब्बी शेरगिल्ल का "छल्ला", फिल्म साहिब बीबी और गैंगस्टर तथा करूक में बब्बु मान की 'जुगनी' व 'छल्ला', फिल्म पूरे पंजाबी में संजीव का 'छल्ला', गायिका हरी-सुखमनी व पाकिस्तानी गायक आरिफ लुहार द्वारा कोक स्टूडियो में गाया 'छल्ला' व 'जुगनी' को भी देखा जा सकता है।

इसके अलावा आज टी.वी. चैनलों, विद्यालयों व विश्वविद्यालयों में करवाई जा रही संगीत की प्रतियोगिताओं में अध्यापक व विद्यार्थी प्रतियोगिता में अव्वल रहने की मंशा से और संगीत में अपनी मुहारत व कला कुशलता दिखाने हेतु लोक गीतों की सहज, सरल धुनों और लय ताल में परिवर्तन कर उनकी मौलिकता में बिगाड़ पैदा कर रहा है वहीं दूसरी ओर इनमें सुगम संगीत और उप-शास्त्रीय संगीत की गायन शैलियों जैसे गीत, ग़ज़ल, ठुमरी इत्यादि का अंग भी प्राय देखने में मिल जाता है। इस प्रकार वर्तमान गायक-कलाकारों के द्वारा किए जा रहे प्रयोगों से न सिर्फ पंजाबी लोक गीतों की शुद्धता ही नष्ट हो रही है बल्कि इनसे संजीदा और संवेदनशील लोक मन व आत्मा को ठेस भी पहुंचाई जा रही है।

वादन पक्ष

पंजाबी लोक संगीत की परम्परा में जिस प्रकार गायन के लिए प्रयुक्त काव्य में भावपूर्ण वातावरण का सृजन करने हेतु जीवन की प्रत्येक वस्तु को आधार रूप में प्रयुक्त किया जाता है वहीं इसकी सफल पेशकारी के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले वाद्य भी ज्यादातर घरेलू साजो-समान से ही बनते थे जैसे कि अवनद्ध वाद्यों में ढोल, ढोलकी, नगारा, डफ, डफली, ढड्ड, डऊरू, तत् वाद्यों में तूँबा, तूँबी, एकतारा, सारंगी, किंग सुषिर वाद्यों में बांसुरी, अलगोजे, बीन, शंख और घन वाद्यों में लोटा, चपटी, सोटी, परात, काटो, किरला, सप्प, घड़ा, घड़ोली, गड़वी, छज्ज, कड़ाही, चम्मच, गिलास, खंजरी, चिमटा, खड़ताल, घुँघरू, बंबीहा, थाली, कड़े इत्यादि।

इन लोक वाद्यों के साथ गायन करके यहां अद्‌भुत व भावपूर्ण दृश्य पैदा किया जाता था वहीं आज पश्चिमी वाद्यों जैसे आरगन, सैंपलर, सिंथेसाईजर, मिडी की-बोर्ड कंट्रोलर, मैडोलिका, ड्रम सैट, इलैक्ट्रोपैड, हारमोनियम, पावर गिटार इत्यादि का प्रयोग किया जाने लगा है जिनसे पारम्परिक लोक वाद्यों की अवहेलना कर इका-दुका वाद्यों को छोड़ कर इनका वादन इलैक्ट्रिक वाद्यों पर ही कर दिया जाता है। इसी के साथ ही लोक गीतों में प्रयुक्त तालों की विविधता जैसे कहरवा, दादरा, दीपचंदी, ढाईया, पश्तो, इत्यादि के स्थान पर पश्चिमी बीट का प्रयोग किया जाने लगा है। इसके अतिरिक्त यहां पुरातन लोक गीत प्रस्तुति में ताल का सहज रूप में वादन किया जाता था वहीं आज तालों की लड़ंत-भिड़ंत दिखाते हुए गायन पर वाद्यों का ज्यादा प्रभाव दिखाया जाने लगा है और साथ ही गीतों की लय घटाकर या बढ़ाकर गायन करने के कारण गायन में नीरसता और उबाऊपन बढ़ने लगा है।

अदाइगी

आज से कोई 20 वर्ष पूर्व तक पंजाबी लोक संगीत की तीनों विधाएं गायन, वादन और नृत्य के प्रस्तुतीकरण में यहां सांस्कृतिक मर्यादाओं को पेश किया जाता था वहीं कुर्ता-कुर्ती, चादरा, लूंगी, तिल्ले की जुत्ती, कैंठा, जुगनी, सग्गी फुल, टिक्का, तुरले वाली पगड़ी इत्यादि पहरावा पहन कर और शृंगार कर सज-धज कर पंजाबी नौजवान युवक-युवतियां मेलों-त्योहारों में इकट्ठे होकर निकलते थे तो मानो ऐसा प्रतीत होता था जैसे सारी सृष्टि ही उनकी खूबसूरती की प्रस्तुति करती हुई उनके साथ गाने, बजाने व नृत्य करने के लिए तत्पर हो रही हो। ऐसे में गायक, वादक और नृत्यकारों द्वारा विभिन्न गीतों पर झूम-झूम कर विशेष अदाइगी से किया प्रस्तुतिकरण पंजाबी, पंजाबण का विशिष्ट व्यक्तित्व का सृजन करता था, परन्तु आज पंजाबी लोक संगीत में यहां अन्य सांगीतिक धाराओं का प्रभाव पड़ रहा है वहीं इनकी पेशकारी और अदाइगी में पंजाबी सभ्याचार को आँखों से ओझल किया जा रहा है। आज

मल्टीमीडिया के युग में टी.वी चैनलों पर बात तो सभ्याचार की होती है, किन्तु उसके फिल्मांकन में पंजाब की खूबसूरत नायिका को उसके पारम्परिक पहरावे से वंचित कर विदेशी पहरावा पहना कर अर्द्धनग्न हालत में पेश किया जाता है। उदाहरण के लिए एक लोकगीत ''लट्ठे दी चादर उत्ते सलेटी रंग माहिया'' में नायिका के बाल कटे हुए और लहंगा चोली पहने हुए दिखाया गया है। दूसरा यहां पंजाबी लोक संगीत का पेशकारी स्थल खुले मैदान में अखाड़े के रूप में हुआ करता था वहीं आज इनकी पेशकारी बंद ओडिटोरियम और स्टूडियो में की जाने लगी है जिनके चलते आज का युवक इन पश्चिम तर्ज की स्वर व ताल लहरियों पर थिरकने लगा है।

यदि आज के मनुष्य की बदलती हुई इस मानसिकता को देखा जाए तो यहां एक ओर पदार्थ और विश्व में अपनी पहचान स्थापित करने की लालसा में विश्व स्तरीय मापदंडों के अनुसार अपनी सांस्कृतिक धरोहरों का नवीनीकरण किया जा रहा है वहीं दूसरी ओर इस भागम-भाग भरी जिंदगी में मानसिक संतुष्टि पाने के लिए उन्हीं मापदंडों का सहारा भी लिया जा रहा है। आज पूरे विश्व में विदेशी गायन व वादन शैलियों का बोलबाला है। यदि इन गायन वादन की शैलियों की दार्शनिकता पर विचार किया जाए तो यहां पंजाबी लोक संगीत परम्परा में सामाजिक मर्यादाओं की शुद्धता बरकरार रखते हुए आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त किया जाता था वहीं इन विदेशी संगीत परम्परा की शैलियों का कोई ठोस आध्यात्मिक धरातल न होने के कारण यह देह की रसकिता और उसके समस्त प्रसारों पर केन्द्रित होकर अपनी मानसिक संतुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करती हैं। इसलिए वहां गायन की बजाए वादन की प्रधानता रहती है। जिसके अंतर्गत जोर-शोर से और कामुक गतिविधियों से नृत्य किया जाता है।

यह ठीक है कि बदलाव सृष्टि का नियम है और समय के साथ हर वस्तु में बदलाव आना ज़रूरी है लेकिन यह बदलाव इतना भी नहीं आना चाहिए कि सभ्याचारिक कदरें-कीमतें, पंजाबी समाज से अलोप ही न हो जाएं। इसलिए आज ज़रूरत है कि पंजाबी लोक संगीत परम्परा के बदलते स्वरूप पर ध्यान केन्द्रित कर इसकी मौलिकता को उभारा जाए इसके लिए आज यहां पंजाबी कलाकारों को अपनी व्यवसायिक अभिरूचि के चलते इस सांगीतिक धरोहर की शुद्धता को सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से विश्व भर में इसका प्रचार व प्रसार करना चाहिए वहीं सरकारी, ग़ैर सरकारी व प्राईवेट विद्यालयों, विश्वविद्यालयों व संगठनों को भी इसकी मौलिकता को स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए तभी एक सच्चे पंजाबी और अच्छे नागरिक होने का मान हासिल हो सकेगा।

संदर्भ

1. सोहल डॉ. हरिन्द्र कौर, पंजाबी गायकी : विभिन्न पासार, पृ.127.
2. सिंह डॉ. गुरनाम, पंजाबी लोक संगीत विरासत, भाग-2, पृ. 250.
3. जोशी जीत सिंह, लोक धारा अते लोकधारा शास्त्र, पृ.63.
4. फिल्म करूक, गायक बब्बु मान, छल्ला रिलीज 13 सितंबर, 2010.
5. ओबराय गीता, पंजाब के सांस्कृतिक प्रवेश में पंजाब के लोक गीतों का साहित्यक, मनोवैज्ञानिक तथा संगीतात्मक विश्लेषण, पृ.127.
6. www.youtube.com/#/watch?v=5 nj 67/iM7V
7. Coke Studio, Pakistan, www.youtube.com/#/watch?v=aa3sYX fcDYc&list
8. Ibid.

तन्त्र वाद्य : उत्पत्ति की अवधारणा एवं महत्व

डॉ. (श्रीमती) कृष्णा चक्रवर्ती

हम भारतीय संस्कृति के किसी भी पक्ष का अध्ययन करें, उसे धर्म से अनुप्राणित पायेंगे। संगीत, भारतीय विचारधारा की इस विशेषता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यही कारण है कि संगीत के आदि विद्वानों व शास्त्रकारों ने उसे नाद-वेद की संज्ञा देकर उसकी उत्पत्ति सृष्टिकर्ता ब्रह्मा द्वारा बताई है। यह विद्या ब्रह्मा से क्रमशः शिव, सरस्वती, नारद तक आयी, जिन्होंने इसकी शिक्षा यक्ष, किन्नर, अप्सरादि को दी। तत्पश्चात् भरत आदि ऋषियों ने इसे सीखा तथा पृथ्वीलोक तक पहुँचाया।

भारतीय संगीत के तीन अंग हैं- गायन, वादन और नृत्य। इसी कारण गायन के अतिरिक्त वादन और नृत्य से भी संगीत- शास्त्रियों की यह धार्मिक आस्था जुड़ी हुयी है। यही कारण है कि प्राचीन ग्रन्थों में हमें वाद्यों की उत्पत्ति का वर्णन किसी-न-किसी देवी-देवता से संबद्ध प्राप्त होता है।

भारतीय संगीत में वाद्यों को तत, अवनद्ध, सुषिर, तथा घन इन चार वर्गों में विभाजित किया गया है। इन चारों प्रकार के वाद्यों के संबन्ध में कहा गया है-

सर्वं वाद्यंतु देवानां गंधर्वाणां च शौषिरम्।
निजावतारे गोविंदा : सर्वमेवानयत क्षितौ।

अर्थात् - "तत् वाद्य देवताओं से, सुषिर गंधर्वों से, अवनद्ध राक्षसों से तथा घन किन्नरों से संबंधित थे। जब श्री कृष्ण ने अवतार लिया, तो वे इन चारों प्रकार के वाद्यों को पृथ्वी पर ले आए।"

वाद्यों के प्रादुर्भाव के एक अन्य स्रोत के अनुसार पूर्व-काल में पृथ्वी पर दस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। इनमें से एक का नाम था तूर्यांग। इसी कल्पवृक्ष ने मनुष्यों को चार प्रकार के वाद्य प्रदान किए।

इसके अतिरिक्त कल्लिनाथ के मतानुसार दक्ष-यज्ञ-विध्वंस से शिव को जो क्रोध उत्पन्न हुआ, उसको शांत करने के लिए स्वाति और नारद (ऋषियों) ने वाद्यों का निर्माण किया।

वाद्यं दक्षाध्वरध्वंसोद्वेगल्यागाय शंभुना।
चक्रे कौतुकतो नंदि स्वाति तंबुरु नारदैः।।

इसी प्रकार तत् वाद्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डाले तो तत् वाद्य की उत्पत्ति को लेकर भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है।

भास-रचित नाटक 'चारुदत्त' के तीसरे अंक में कहा गया है कि, समुद्र - मंथन के समय जो रत्न निकले थे, वीणा भी उनमें से एक थी।

वीणा नाम समुद्रोत्थितं रत्नम।
(भास रचित नाटक चारूदत्त अंक 3)

'शिवपुराण' में प्राप्त एक कथानुसार वीणा का निर्माण शिव जी ने पार्वती जी की शयन-मुद्रा को देखकर किया था।

बेंजामिन 'वाकर' ने अपनी पुस्तक हिंदुवर्ल्ड' के दूसरे भाग में बताया है कि वीणा का निर्माण देवी सरस्वती के विभिन्न अंगों के आधार पर हुआ है। यह शायद 'सरस्वती वीणा' नाम के कारण लिखा गया है।

प्रोफेसर, वादन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

तत् वाद्यों में एक प्राचीन वाद्य रावणास्त्र या रावणहस्त नामक है। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसका निर्माण रावण द्वारा हुआ था। यह गज से बजने वाला सबसे प्राचीन वाद्य माना जाता है। लंका और भारत के कुछ भागों में आज भी इसका कुछ परिवर्तित रूप इधर-उधर घूमकर आजीविका अर्जित करने वाले वादकों-याचकों के पास उपलब्ध होता है। वीणा के विभिन्न प्रकारों में एक 'रावणी' भी बताया गया है।

रूसी विद्वान एनफिलोव (Anfilove) ने जगत्-प्रसिद्ध प्राचीन तंत्रवाद्य हार्प (Harp) की उत्पत्ति की एक अत्यन्त रोचक सम्भावना प्रकट की है (ग्लोब एन्फिलोब की पुस्तक 'फिजिक्स एण्ड म्यूज़िक')। इस संभावनानुसार एक दिन एक युवा आखेटक आखेट के पश्चात् अपने निवास की ओर लौट रहा था। राह में उसकी भेंट एक सुंदर नवयुवती से हुई (कदाचित उसकी प्रेमिका) जो कि कद्दू का एक सूखा तुंम्बा लिए जल भरने के लिए उसके पास रूक गई। उस युवक ने मृत पशु को कंधे से नीचे उतार दिया और वहीं एक शिलाखंड पर बैठ उस नवयुवती से वार्तालाप करने लगा। उस नवयुवती के कहने पर वह उसे एक गीत गाकर सुनाने लगा, साथ ही वह अपने धनुष की डोरी को भी अँगुली से बजाता जा रहा था। वह नवयुवती उस प्रेम-गीत में इतनी खो गई कि तुंबा उसके हाथ से नीचे गिर गया। उस युवक ने यह देखकर (शायद उसे तुंबे को लुढ़कने से बचाने के लिए अपने धनुष का एक सिरा उस तुंबे में फँसा दिया। उसे अचानक लगा कि उसके धनुष की ध्वनि पहले से बढ़ गई थी और अधिक अच्छी लग रही थी। इस प्रकार के ध्वनि गूंज उत्पन्न करने वाले तुम्बे आज भी बहुत से वाद्यों में उपलब्ध है। यह ज्ञात होने से कि डोरी की लम्बाई में परिवर्तन करने से स्वर में भी परिवर्तन आता है, एक ही धनुष में छोटी-बड़ी कई डोरियां बाँधी जाने लगीं और इस चेष्टा के परिणाम स्वरूप प्रसिद्ध वाद्य हार्प (Harp) का जन्म हुआ। रोम, ग्रीस, इजिप्ट आदि में इस प्रकार के वाद्यों का बहुत प्रचलन रहा। भारत में भी इस प्रकार की वीणा पायी जाती थी। धीरे-धीरे इसमें तारों की संख्या बढ़ती गई, जिसमें स्वरमंडल (कानून) और संतूर जैसे वाद्यों का जन्म हुआ जिनको कि आधुनिक पाश्चात्य वाद्य पियानो - फोर्ट का पूर्वज माना जा सकता है।

वीणा का प्रारम्भिक स्वरूप

इस बात की पुष्टि करते हुए सर एडवर्ड बी टेलर ने भी तंत्रवाद्यों की उत्पत्ति को लेकर अपनी कल्पना व्यक्त करते हुए कहा है कि आदि मानव जब धनुष-बाण से जानवरों का शिकार करता था तब-बाण को धनुष पर चढ़ाकर छोड़ते समय उसमें से एक टंकार या कम्पन से ध्वनि उत्पन्न हुई होगी। पुनः वह बाण न छोड़कर सिर्फ डोरी को छेड़कर बजाया होगा कुछ और भी बातों का ज्ञान उसे धीरे-धीरे हुआ होगा, जैसे कि एक बार उसके धनुष की डोरी टूट गई होगी दुबारा उसे बांधने पर पहले की तुलना में डोरी कुछ छोटी रह गयी जिससे उत्पन्न स्वर पहले की तुलना में कुछ उंचा रहा होगा। कई बार ऐसा करने से उसने जान लिया होगा कि डोरी की लम्बाई घटाने बढ़ाने से स्वर ऊँचा-नीचा होता है इस तरह से उसने एक धनुष में कई डोरियां लगाई होगी जिससे कई तरह के स्वर उत्पन्न हुए होंगे। उसने यह भी देखा की धनुष के सिर को यदि किसी खोखली वस्तु से सटाकर बजाया जाता था तो उससे उत्पन्न ध्वनि में अधिक गूंज होती थी। बार-बार इन्हीं बातों का श्रवण करते हुए उसने तन्त्र वाद्य की कल्पना की। तन्त्र वाद्यों के आविष्कार में आदि मानव को धनुष के वाद्यों का जन्मदाता कहा है। उपरोक्त धारणा की व्याख्या ग्लोब एन्फिलोब ने भी अपनी पुस्तक फिजिक्स एंड म्यूज़िक में किया है।

अतः उपरोक्त अवधारणाओं से स्पष्ट होता है कि वाद्यों की उत्पत्ति का इतिहास अत्यन्त रोचक है। तत वाद्यों के प्राचीन रूप को वाण कहते है। अतः तत वाद्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह अवधारणा उचित प्रतीत होती है।

तंत्र वाद्य का महत्व-

भारतीय संस्कृति में सांगीतिक वाद्यों का संबंध देवी-देवताओं के साथ बताया गया है। सम्भवतः ऐसा इसलिए है, क्योंकि, इस देश में ललित कलाओं

को, विशेषतः प्रदर्शनकारी कलाओं को, हमारी कलाओं के रचयिताओं तथा संप्रवर्तकों द्वारा केवल मनोरंजन के साधन और साध्य के रूप में नहीं माना गया है। अपितु हमारे शास्त्रों में विशेषतः इन कलाओं में, धर्म तथा दर्शन निर्माण अभिन्न अंग के रूप में है। जब भगवान शिव तांडव नृत्य करते हैं, तब वे नटराज होते हैं और जब वे वीणाधर दक्षिणामूर्ति होते हैं, तब वैणिकों के राजा होते हैं। जब भगवान विष्णु भगवान कृष्ण होते हैं, तब वे श्रेष्ठतम् वेणु वादक होते हैं। जब भगवती पार्वती भगवान शिव के तांडव नृत्य के समय उनके साथ लास्य नृत्य करती है, तब वे श्रेष्ठतम नर्तकी होती है, इसके अतिरिक्त वे वीणा वादिनी भी है। भगवान ब्रह्मा को स्वयं संगीतज्ञ होने की अपेक्षा संगीत तथा विद्या की देवी सरस्वती का पति होने का गौरव प्राप्त है, एक गीत रचनाकार ने भगवती लक्ष्मी को वीणा वादिनी के रूप में चित्रित किया है। नटराज के विश्व नृत्य में देवी सरस्वती वीणा बजाती हैं, विष्णु वेणु बजाते हैं तथा नंदी मृदंग बजाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कैसे और क्यों वीणा वेणु तथा मृदंग की हिन्दू संस्कृति में महत्वपूर्ण पारम्परिक संगीतीय वाद्यों में सर्वाधिक सम्मानित तथा महत्वपूर्ण माना जाता है।

भारतीय संगीत के सम्पूर्ण वाद्य मण्डली में केवल वीणा ही पवित्र प्रतीक के रूप में आदरणीय है। वीणा का वादन करना ही नहीं बल्कि उसका दर्शन करना या उसका स्पर्श करना ही इस लोक का तथा स्वर्ग का योग और साथ ही मोक्ष प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

वीणा को इतना पवित्र माना जाता है कि मात्र उसका दर्शन या स्पर्श करने से मनुष्य को ब्राह्मण की हत्या आदि जैसे जघन्य पाप से मुक्ति मिल जाती है।

ऐसा इसलिए क्योंकि जिस प्रकार पुरुष के विभिन्न भागों में विभिन्न देवताओं और देवियों का निवास है, उसी तरह वीणा में भी सभी देवताओं का निवास है। वह सर्वदेवमय, सर्वमंगला हैं। उसके दण्ड पर शंभु का निवास है, तन्त्र पर उमा का निवास है, कुकुभ (ब्रिज) पर विष्णु का निवास है, पत्रिका पर लक्ष्मी का निवास है, तुम्बे पर ब्रह्मा का निवास है, दोरक (रस्सी) पर वासुकी का निवास है, जीवा (ल) जवारी पर चन्द्र का निवास है और सारिकाओं पर सूर्य का निवास है।

"दण्ड शम्भुरूमातंत्री कुकुभः कमलापतिः।
इन्दिरा पत्रिका ब्रह्मा तुम्बंनाभिः सरस्वती।।
दोरको वासुकि जीवा सुधांशुः सारिका रविः।
सर्व देवमयी तस्माद् वीणायं सर्वमंगला।।

मोक्ष प्रदान करने की उसकी क्षमता की विशेष रूप से प्रशंसा की गयी है।

"यो वीणावादनं वेत्तितत्वत, श्रुतिजातिवित्।
ताल (घाट) पातकलाभिज्ञ, सो केशान्मीसमृच्छिति।।
याज्ञवल्क्य स्मृति में भी यह कहा गया है,
वीणा वादनतत्वज्ञ, श्रुति जाति विशारदः।
तालक्षणं चाप्रयासेन मीसमार्ग स गच्छति।।"

वैदिक काल में यज्ञों का महत्वपूर्ण स्थान था, एवं वीणा यज्ञ की भावना तथा यज्ञानुष्ठान दोनों के लिए केन्द्रिय महत्व के थे। जो राजा यज्ञ किया करते थे उन्हे तीन गाथा गीत रचने के लिए और उन्हें वीणा के साथ गाने के लिए कहा जाता था। एवं उनकी पत्नी वीणा वाद्ययोग की संगति में गाया करती थी अर्थात् उप गायन करती थी, जिसमें अपाघातली स्तंबल, गोधा, कांड और पिछोला, वाद्य शामिल हुआ करते थे, इस वाद्य योग में त्रितन्त्री, सप्ततन्त्री तथा शततन्त्री वीणाएँ हुआ करती थीं।

ब्राह्मण पुरोहित को भी वीणा बजाते हुए कोई गाथा गीत गाना पड़ता था।

भारतीय संगीत में कुछ वीणाओं को पशुओं और पक्षियों का नाम दिया गया है या उनकी आकृतियाँ पशुओं और पक्षियों जैसी बनाई गई हैं, उदाहरणार्थ- कपिशीर्ष्णी, गोधा, मकरयाल, कच्छप वीणा, मयूर वीणा, मत्त कोकिला। यह संगीतीय जीववाद का और सौन्दर्यपरक सह जीविता के अन्य सजीव रूपों तक घटना क्रिया विज्ञात्मक विस्तार का सूचक है। पशुओं और पक्षियों को शामिल करने के ऐसे प्रत्यल भारतीय संगीत में स्वरों और रागों की अभिव्यक्ति में भी देखे जा सकते है।

साहित्यिक स्रोतों तथा संगीत शास्त्रीय ग्रन्थों का संक्षिप्त अवलोकन करने से इस बात का पता चलता है कि भारत के लोगों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में वीणा की मुख्य भूमिका रही है। वीणा वादन प्रवीण राजकुमारों और भद्र समाज के लोगों की शिक्षा का अभिन्न अंग थी। वधू को विवाह में जो दहेज दिया जाता था उसमें वीणा भी शामिल होती थी। वीणा के स्वामियों तथा वादकों द्वारा उसे सुन्दर नाम दिए जाते थे।

अतीत में वीणा सर्वोच्च संगीतीय वाद्य, सर्वोच्च एकल वाद्य था और वर्तमान में भी है। वीणा को एक संगत वाद्य के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। गायक, स्वयं अपने गायन के साथ वीणा वादन किया करता था या अपने वीणा वादन के साथ स्वयं गाया करता था।

ईसा पश्चात् शताब्दी जितने पुराने समय में भरत ने नाटक के नेपथ्य गान में एक महत्वपूर्ण भाग के रूप में जिन वाद्य समूहों-कुतपों - का वर्णन किया है उनमें तत् कुतप अर्थात् तार वाले वाद्यों का समूह प्रमुख था और उसमें विभिन्न प्रकार की वीणाएँ शामिल हुआ करती थीं।

इस प्रकार वीणा भारत में एक प्रमुख सांस्कृतिक वाद्य के रूप में विराजमान है। वीणा ने ग्रामीण तथा नगरीय सामाजिक स्तरों को परिव्याप्त तथा प्रभावित किया है। विभिन्न युगों की वीणा का अध्ययन भारतीय लोगों के आध्यात्मिक तथा सौन्दर्यपरक प्रयासों का अध्ययन है।

अतः हम यह कह सकते है कि वीणा भारत के सामाजिक सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एक सांगीतिक क्षेत्र का गौरव रहा है, वीणा का स्थान सर्वोपरि था। तथा इसका उपयोग सर्वाधिक सम्मानित एकल वादन सांगीतीय वाद्य के रूप में तथा संगतकारी वाद्य के रूप में किया जाता था। आधुनिक समय में भले ही वीणा का प्रयोग कम हो गया हो परन्तु उसके गौरव और उसकी पवित्रता पर कोई असर नहीं पड़ा है। वह आज भी गौरववान एवं पवित्र है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संगीत वाद्य वादन अंग, जनवरी-फरवरी - 1975, संगीत कार्यालय, हाथरस (उत्तर प्रदेश)।
2. चौरसिया ओम प्रकाश, वीणा-वाणी
3. मिश्र डॉ. लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य
4. चौधरी सुभद्रा व्याख्या एवं अनुवाद कर्त्री, संगीत रत्नाकर, तृतीय खण्ड, अध्याय- 5 एवं 6 - शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर
5. परांजपे डॉ. श्रीधर शरच्चन्द्र, भारतीय संगीत का इतिहास

भारतीय संस्कृति में संगीत के शास्त्रीय व लोकपक्ष का कलात्मक विवेचन

हरिओम हरि

संगीत सदा से संस्कृति का संगी रहा है। संस्कृति के उद्‌गम एवं विकास के साथ ही संगीत के उद्‌गम एवं विकास का क्रम देखा जा सकता है। भारतीय संगीत हो या पाश्चात्य अपने विकास के लिए साधन या सामग्री जन-जीवन से जुटाता रहा हैं। संगीतकला अनादि काल से प्रचार में है। संगीत उतना ही प्राचीन है जितना मानव जाति। संगीत के इतिहास को संस्कृति से अलग नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में विशेष विचार करने का प्रयोजन नहीं है किन्तु संगीत-कला चाहे उसका शास्त्रीय आधार हो या लोकपक्षीय सामाजिक आधार, ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला मानी जाती है। कला को सम्पूर्ण रूप से समझने एवम् उसे आत्मसात् करने हेतु उसके शास्त्रीय पक्ष मानव को कला की गइराई, मंथन, सौंदर्य चिंतन एवम् उसके पारम्परिक सिद्धान्तों का नियमों की ओर विचार करने की प्रेरणा देता है तथा कला का लोकपक्ष सन्तुलन, जीवन की मार्मिक वस्तुस्थिति, समाजरूढ़, विश्वास तथा कलात्मक रंजना की ओर प्रेरित करता रहा है। कला के शास्त्रीय पक्ष व्यक्ति की प्रतिभा, संवेदनात्मक अनुभूति तथा उसके विभिन्न प्रकार के उपकरण आदि मूल आधार माने जाते हैं किन्तु कला के लोक पक्ष में प्रेरणात्मक आधार सामाजिक विश्वास, रीति-रिवाज, उत्सव-त्यौहार एवम् अनेक ऐसे विशिष्ट मूल्य ही समझे जाते है। शास्त्रीय पक्ष जहाँ व्यक्तिनिष्ठ है वहाँ उसका लोकपक्ष लोकनिष्ठ है। शास्त्रीय एवं लोकपक्ष दोनो ही कलात्मक क्षेत्रों में अपनी-अपनी जगह स्वतंत्र है एवं अपनी अपनी परम्परागत सामाजिक उत्सव-त्यौहारों तथा नियमों द्वारा सौन्दर्य एवम् रंजनानुभूति देते हैं।

संगीत के ये दोनों पक्ष अनादि काल से एक दूसरे के समकक्ष चलते आए हैं एवम् एक दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। लोक संगीत का प्रेरणा स्रोत जन मानस है। उसका विकास और संचरण क्षेत्र अधिक विस्तृत है। वहीं शास्त्रीय संगीत के प्रयोग एवं परीक्षण के लिए शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता है तथा विशिष्ट अभ्यास क्रम से गुजरने की जरूरत है, परन्तु लोक-संगीत के प्रयोग के लिए किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता नहीं हैं। शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है तथा लोक संगीत सामुदायिक साधना का। संगीत के सभी पक्ष का मूलाधार या स्रोत जन-संगीत या लोक-संगीत था। अर्थात् शास्त्रीय संगीत व्यक्ति प्रधानता पर आधारित होकर अपने स्वतंत्र सिद्धान्त, नियम-उपनियम एवं परम्परा द्वारा विकासोन्मुख होता रहा है। वहीं लोक-संगीत शास्त्र होते हुए भी अपनी विशिष्ट सामाजिक रीति-रिवाजों एवं परम्पराओं के द्वारा सहज रूप में भावाभिव्यक्ति तथा रसानुभूति की ओर अग्रसर होता रहता है।

साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर लोक संगीत का क्षेत्र शास्त्रीय संगीत से कहीं अधिक व्यापक है। भारतीय संगीत की अति प्राचीन विद्या ध्रुपद से पूर्व गाए जाने वाले 'प्रबन्ध' संस्कृत में रचे जाते थे। ध्रुपद तथा ख्याल में ब्रज, मागधी तथा हिन्दी भाषा का प्रयोग पाया जाता है। किन्तु लोकगीतों में किसी एक भाषा-विशेष के प्रयोग को नहीं गिनाया जा सकता। क्यूँकि प्रांत की जनपदीय भाषाओं से लोकगीतों का कलेवर बना है। भाषा के प्रभाव से आगे जाने पर यह अनुभूति होती है, कि संगीत कला का माध्यम संगीतोपयोगी नाद है और यह नाद दोनों प्रकार के

वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

संगीत-सृजन का एक ही माध्यम है, जो कि एक महत्वपूर्ण तथ्य है, यह निर्विवाद है। संगीत की अमूर्त नाद-ध्वनियों को शब्द अथवा काव्य का आवरण पहनाया जाता है व जब गीत के बोल संगीत के स्वर से सम्पर्क स्थापित करते हैं तब संगीत की उद्भावना इन दोनों ही माध्यमों द्वारा एक विशेष स्थान ग्रहण करती है। परन्तु शास्त्रीय संगीत हो या लोक संगीत हो उसमें शब्द काव्य के बिना ही केवल संगीतोपयोगी अमूर्त नाद-ध्वनियाँ ही पर्याप्त है। संक्षेप में यही कहना उचित होगा कि दोनों ही प्रकार के संगीत में उसकी अमूर्त स्वर व्यक्तियों को काव्य का आवरण पहनाने से दोनों ही प्रकार के संगीत को एक मूर्त स्वरूप प्राप्त होकर संगीत का उद्देश्य विशिष्ट प्रकार से सिद्ध होता है। अतः गीत के बोलों को संगीत से पृथक करना अनुचित होगा क्योंकि यह एक अनुभूतिमूलक तथ्य है।

डॉ. चिंतामणि उपाध्याय के शब्दों में -

"लोकगीतों में मानव हृदय के भाव आकर जीवन के सामान्य धरातल पर उतर कर आशा-निराशा, आकर्षण-विकर्षण, हर्ष-विमर्श, प्रणय-कलह आदि के रूप में व्यक्त हुए हैं। लोकगीतों की इस अभिव्यक्ति में हमें मानव जीवन की उस प्रारम्भिक स्थिति के दर्शन होते हैं, जहाँ साधारण मनुष्य अपनी लालसा, उमंग, उल्लास प्रेम एवं घृणा आदि भावों को प्रकट करने में समाज द्वारा मान्य शिष्टचार के कृत्रिम बंधनों को स्वीकार नहीं करता। स्वच्छंद भावना और उसकी स्वछंद अभिव्यक्ति लोकगीतों का प्रथम लक्षण है।"

कला का लोकपक्ष शास्त्रविहीन है तथा उसमें सामाजिक परम्पराओं के विशिष्ट दर्शन होते हैं। उसमें सहज सुलभ, रंजन एवं रसादि की अनुभूति विशेष रूप से विद्यमान है। लोक संगीत की सृजन-प्रक्रिया सहज, स्वाभाविक एवं स्वयं स्फूर्त होती है। हमारे समाज में मानवीय सम्बन्ध, विश्वास, रीति-रिवाज, जीवन के विभिन्न मार्मिक अनुभव एवं प्रेममय मधुर कल्पनाऐं आदि का सामाजिक दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। इन्हीं सर्वव्यापी तथ्यों के विषय लोकसंगीत में पाये जाते है। इसीलिए लोक संगीत सम्पूर्ण मानव जाति को एक सूत्र में बांध देता है। लोककला की महत्ता एवं उसकी उपादेयता के सम्बन्ध में हमारे प्रथम प्रधान मंत्री स्व. पं. जवाहरलाल नेहरू के ये उद्गार युक्तियुक्त हैं-

"लोक-कला में हमको अपने उस सांस्कृतिक वैभव को देखने का अवसर मिलता है, जिसने हमारे देश को एकता के सूत्र में बांधा हैं।"

शास्त्रीय संगीत में गणित के अंतर्गत ताल एवं लय की जटिलता पर समन्वय करके रंजकता सर्जित करनी पड़ती है तथा शास्त्रीय संगीत के स्वर, नादस्थान, वादी-संवादी, स्वर, आलाप, तान, मींड, गमक आदि तथ्यों का उपयोग होते हुए भी उसके सूक्ष्म ज्ञान, अध्ययन एवं गहन चिन्तन की आवश्यकता होती है। शास्त्रीय संगीत के शिक्षण की सुव्यवस्था सरल है किन्तु लोकसंगीत की कठिन। कारण अल्हड़ता और ग्रामीणता-जो लोक संगीत के प्राण हैं- को पढ़ाना संगीत निपुण प्राध्यापकों के बूते का रोग नहीं। यह तो उसी वातावरण में रहकर सीखा जा सकता है। लोकगीत की रागिनी कुशल गायक के कोमल कण्ठ में बैठकर मार्ग संगीत की प्रतिष्ठा पा लेती है। कई राग जैसे खमाज, खंभावती, काफी, पीलू, मांड, गारा, मालवी, सारंग आदि रागों का शास्त्रीय संगीत में प्रवेश लोकसंगीत से ही हुआ है। संगीत का इतिहास इन्ही दो धाराओं के परस्पर आदान-प्रदान की लम्बी कहानी रहा है।

शास्त्रीय संगीत एवं लोकसंगीत दोनों परस्पर भिन्न है। दोनों की ही अपनी-अपनी स्वतंत्र परम्परा हैं। हमारा लक्ष्य यहीं होना चाहिए कि विकासोन्मुख होने की इच्छा से दोनों ही प्रकार के संगीत की स्वतंत्रता, परम्परा एवं भावाभिव्यंजकता कला की स्वतंत्र शैलियों पर कुठाराघात नहीं हो और संगीत कला के शास्त्रीय एवं लोकपक्ष दोनों ही अपनी-अपनी स्वतंत्रता से विकसित होते रहें।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गर्ग डॉ. लक्ष्मीनारायण, निबंध संगीत, प्रकाशक- संगीत कार्यालय हाथरस, संस्करण-तृतीय, मार्च 2003 ई.।
2. परांजपे डॉ. शरतचन्द्र श्रीधर, संगीत बोध, प्रकाशक- मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, संस्करण पंचम 2004 ई.।
3. राजुरकर गोविन्द राव, संगीत शास्त्र पराग, प्रकाशक- राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, संस्करण प्रथम 1982 ई.।

गमक

डॉ. संगीता सिंह

राग-संगीत के मौलिक विकास में वस्तुतः गमकों की प्रमुख भूमिका रही है ऐसा मत व्यक्त करते हुए श्री सी.एस. पंत ने लिखा है "भारतीय रागों का विकास भी मौलिक रूप से गमक के आधार पर हुआ है। प्राचीन ग्राम रागों का मूल आधार पंच गीतियां अथवा गीत विधाएं ही थीं जो कि वास्तव में गमक की ही विधियां रीतियाँ थीं, जैसे शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, बेसरा और साधारणी।

गीत-विधाओं की पहचान भी गमक के प्रयोग के वैशिष्ट्य से होती है। शास्त्रीय संगीत में गमक का तत्व इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि कुछ गमकों के प्रयोग व बहुलता से तथा कुछ गमकों के निषेध से विविध प्रकार की गीत विधाओं-ध्रुपद, ख्याल, ठुमरी, टप्पा का निर्धारण हो सकता है।

मींड़ और आंदोलन गमक सभी प्रकार के गायन व वादन में सामान्य रूप में प्रयुक्त होते हैं जबकि टप्पा शैली में इनके प्रयोग पर नियंत्रण रखा जाता है और निषेध रखा जाता है।

आलप्ति को सुचित्रित करने का यह तत्व "गमक" राग की प्रकृति, स्वरूप व व्यक्तित्व को वैशिष्ट्य प्रदान करता है "गमक वह तत्व है जो गीत की अंतर्निहित भाव को अभिव्यक्त करता है। संगीतात्मक ध्वनि को किस प्रकार अन्य स्वरांतरालो तथा मध्यवर्ती स्वरों की छाया के साथ दर्शाया जाए यही गमक का प्रयोजन और कार्य है"

गमक के अंतगर्त स्वर-लगाव की विविध विधियाँ निहित होती हैं, यथा- स्वर पर आंदोलन, अन्य स्वर की छाया, स्वरों का आपसी संबन्ध, निरंतरता, अखंडता आदि।

श्री सी.एस.पंत के शब्दों में "जिस प्रकार भारतीय चित्रकला, और मूर्तिकला रेखाओं की सूक्ष्म गतियों और मोड़ आदि से विशिष्टता प्राप्त करती है उसी प्रकार भारतीय संगीत भी ध्वनि की निरंतरता, सूक्ष्म गति, आंदोलन तथा अन्यानेक स्वर-क्रियाओं द्वारा विशिष्टता प्राप्त करता है और मुख्यतः गमक ही इसका आधार है।"

"स्वरस्य कम्पो गमकः श्रोतृ चित्त सुखावहः"

अर्थात स्वरों का वह कम्पन जो चित्त के लिए सुखदायी हो 'गमक' है।

स्वरों का कम्पन अर्थात अपने पूर्ववर्ती या परवर्ती स्वरों को स्पर्श करता स्वर गमक है। यह एक बार या इससे अधिक बार उच्चारित करने पर होता है।

गमक की दो पद्धतियां आरोही व अवरोही गमक होती हैं। परवर्ती स्वर के आश्रय से आरोही गमक एवं पूर्ववर्ती स्वर के आश्रित होकर अवरोही गमक होता है।

गमक को वाग भी कहा गया है- **वागो गमक उच्याते**। वाग वाणी को संबोधित करता है संगीत की देवी माँ-सरस्वती को वाग्देवी भी कहते है। अतः वाग 'गमक' के उच्चार में वाणी का स्वर-चैतन्य से परिपूर्ण, विशिष्ठ गतिपूर्ण व संगीतात्मक प्रयोग अभिप्रेत है। 'गमक' शब्द गम् धातु से बना है जिससे गमन, गति अथवा जाने का संकेत मिलता है।

संगीत समयसार में पार्श्वदेव ने गमक की व्याख्या इस प्रकार की है-**'स्वश्रुति स्थान संम्भूता छायाश्रुत्यनतराश्रयाम्'** अर्थात अपनी श्रुति स्थान से उत्पन्न दूसरी छाया ग्रहण करते हुए गीत में 'गमन' करना 'गमक' कहलाता है।

असिटेंट प्रोफेसर, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

कुम्भ की परिभाषा 'गमक' के रूप और सौंदर्य को संम्बोधित करती है- **श्रोतृचित्तस्य सुखदो गमकः स्वरकम्पनम् गमकः स्थाय वर्णाद्याः नानालंकृत्यलंकृता**

अर्थात स्वरों का ऐसा कम्पन जो सुनने में सुखद हो, गमक कहलाता है, गमक-स्थाय, वर्ण आदि अलंकरणों से अलंकृत होता है। **श्रीनिवास** ने भी 'गमक' को 'रक्ति' गुण से संपन्ना बताया है-**गमयन्ति हि ते रक्ति यस्मात्ते गमका मताः**।

आज हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में 'गमक' शब्द का जो आशय साधारणतः लिया जाता है, वह यह है कि हृदय में वांछित प्रकार की श्वसन क्रिया का निर्माण करके कण्ठ द्वारा विशिष्ठ प्रकार के कंपन पैदा कर स्वर उच्चारण किया जाए। **संगीत विशारद** में गमक की परिभाषा इस प्रकार है- 'जब हृदय से जोर लगाकर गम्भीरतापूर्वक कुछ कंपन के साथ स्वरों का प्रयोग किया जाता है, इसे गमक कहते हैं। गमक की व्याख्या वास्तव में इस प्रकार की जा सकती है कि 'निम्न स्वर से उच्च स्वर तक मींड़ युक्त अविच्छेद गति से जाते समय जिस कम्पन ध्वनि की उत्पत्ति होती है, उस विशेष प्रकार की ध्वनि को गमक कहते हैं'।

डा. रानाड़े के अनुसार- "The oscillation of a note which pleases the listener is Gamak. Gamak points out the way how to attach a note and how to move from one or more notes to the others.Gamak reveals the very nature and soul of a song. In rendering Gamak, the vocal ehords are made flexible and there is a strain on the lungs. It is a serious ornament of Indian music."

गमक का प्रयोग अधिकतर ध्रुपद गायन में होता है। किन्तु कोई-कोई गायक ख्याल गायन में भी गमक की तानें लेते हैं। नोमतोम के आलाप में भी जब द्रुत लय का प्रयोग होता है, तो गमक युक्त तानें ली जाती हैं।

कर्नाटक संगीत में इनमें से अनेक गमकों का प्रयोग आज भी होता है उन्हें गमक कहा भी जाता है, किन्तु हिन्दुस्तानी संगीत में 'गमक' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नही होता, जबकि सभी गमकें हमारे गायन तथा वाद्य संगीत में किसी न किसी रूप में अवश्य होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि हम इन सौन्दर्य-उत्पादक स्वर-कंपनों को गमक न कहकर अन्य नामों से जानते हैं, जैसे- मुर्की, कृन्तन खटका, जमजमा, मीड़, गिटकिरी आदि।

पं. सोमनाथ के ग्रंथ "राग विबोध" में वीणा वादन की 22 क्रियाओं का वर्णन मिलता है तथा कुछ विद्वानों के मतानुसार इन 22 क्रियाओं में से 19 क्रियायें गमक के भेद मानी जा सकती हैं। कुछ विद्वानो का यह विचार है कि शारंगदेव तेरहवीं शताब्दी के समय तक गमक के 19 भेद प्रचार में थे।

'गमक' शब्द को ख्याल विशेषज्ञों ने आवाज की तकनीक माना है किन्तु गमक शब्द का अर्थ शास्त्रों के अनुसार स्वरों की गतिशीलता है। गमको को मूल चार प्रकार से विभाजित कर 15 प्रकारों में बांटा गया है। 1: काल मान से- तिरिप, स्फुरित, कम्पित, लीन, आन्दोलित, प्लावित। 2: वितारता (Pitch) से—उल्लासित, नामित, त्रिभिन्न। 3: तारता से- आहत, कुरूप, बलि। 4: तीव्रता से-हुम्फित, मुद्रित।

संगीत रत्नाकर में वर्णित गमक के मुख्य 15 प्रकार निम्नलिखित हैं-

1: तिरिप गमक—''लंघिष्ठड़ मरू ध्वनिकम्पानुकृति सुन्दरः द्रुततुर्याषवेगेन तिरिपः परिकीर्तितः '' इसमें स्वर का प्रयोग अत्यन्त शीघ्रता से किया जाता है। छोटे से डमरू की भांति सुंदर स्वर कम्पन की द्रुत मात्रा को 1/4 गति से सम्पन्न- सा सा सा सा, रे रे रे रे।

2: स्फुरित- ''वेगेद्रुत तृतीयांशरांगिते स्फुरितो गतः''

उक्त कंपित स्वर का बार-बार शीघ्रता से उच्चारण करते समय जब मूल स्वर स्पष्ट रूप से उच्चारित होता है, तब उसे स्फुरित गमक कहते है। द्रुत मात्रा की 1/3 गति में सम्पन्न सा सा सा, रे रे रे।

3: कम्पित- ''द्रुतार्घमान वेगेन कम्पितं गमकं विदुः''

मूल स्वर के आगे या पूर्व के स्वर से मूल स्वर को बार-बार अतिशीघ्रता से स्पर्श करते हुए जब कम्पन द्वारा मूल स्वर का उच्चारण किया जाता है तब कंपित गमक होता है। द्रुत मात्रा की गति 1/2 में सा सा, रे रे ।

4: लीन- "लीनस्तु द्रुत वेगेन"

यह गमक प्रकार किंचित मींड़ अर्थात् प्लावित गमक जैसा प्रतीत होता है। जैसे प ग के उच्चारण में प स्वर को किंचित मीड़ देकर गांधार स्वर गाते हैं। इसके उच्चारण पूर्ण मात्राकाल का ना होकर उसकी कालावधि का 1/4 अंश ही होता है। किंतु दूसरी ओर पंचम स्वर पर अधिक समय तक श्वसन-क्रिया को रोककर उस पंचम स्वर में लीन हो जाने से लीन गमक का बोध होता है।

5: आन्दोलित गमक- आन्दोलित गमक का तात्पर्य होता है स्वर को झूला देना। जब स्वर के पूर्व एवं पश्चात् के स्वर को स्पर्श सहित उच्चारण किया जाए तो वह आन्दोलित गमक है।

6: वलित गमक- इस गमक के अन्तर्गत चार स्वरों को बार-बार शीघ्रता से गाया बजाया जाता है इनके उच्चारण में अनेक वलय अर्थात चक्र सर्दश बनते प्रतीत होते हैं। जैसे सा रे ग रे ग रे सा रे ।

7: त्रिभिन्न गमक- यहां 'त्रि' का अर्थ तीन सप्तक माना गया है, जिसके फलस्वरूप तीनो सप्तकों में समान स्वरों का क्रमशः तत्काल उच्चारण होता है। जैसे म प, म प, म प यदि मध्य सप्तक में म प गाया जाये और उसके पश्चात् शीघ्र ही वही स्वर-युगल तार सप्तक में मं पं गाया जाये और उसके पश्चात शीघ्र ही वही स्वर मंद्र सप्तक म़ प़ करके गाया जाये। इस प्रक्रिया में मध्य सप्तक में म प स्वर के उच्चारण के पश्चात् तार सप्तक में उन्ही स्वरों का गायन करते समय कंठ द्वारा घसीट जैसी क्रिया होगी।

8: कुरूल गमक- गमक का यह प्रकार अति सूक्ष्म होता है। सा रे ग म रे गाते समय सा रे ग म गाने से इसमे रिषभ स्वर का किंचित मींड़ द्वारा किया जाता है।

9: आहत गमक- आहत गमक का अर्थ होता है किसी पर आघात करना। इस कंपन को आज जमजमा या कण-स्वर के रूप में जाना जाता है उसी जमजमा के प्रयोग में रिषभ को गन्धार का कण दिया जाएगा, किन्तु यह कण एक ही परदे पर तार खींच कर दिया जायेगा। आहत गमक में झटका देकर जोर से जमजमें से पृथक भाव दिखलाया जाता है। शास्त्रों में आहत गमक के भी अन्य अनेक प्रकार प्रत्याहत, द्विराहत आदि मिलते है।

10: उल्लासित गमक- इस गमक में प्रत्येक स्वर अपने पूर्व के स्वर से इस प्रकार स्पर्श करता है जिससे यह प्रतीत होता है कि वह स्वर हिल रहा है। आदि उल्लासित प्रवृत्ति में जैसी भावाभिव्यक्ति प्रदर्शित होती है, उसी प्रकार इस गमक के उच्चारण में कोमलता का भाव होता है। इसमें खटका, मुर्की तथा झटके का उच्चारण नही होता, बल्कि हिले हुए स्वर का उच्चारण रेशम जैसा कोमल होता है।

11: प्लावित गमक- एक स्वर से दूसरे स्वर तक कण्ठ को विच्छिन्न न करते हुए दो स्वरों के प्रयोग को प्लावित गमक कहते हैं। इसी को आजकल उत्तर भारत में मीड़ कहते हैं।

12: हुंफित गमक- हुंफित के उच्चारण में मूल स्वर का उस राग में निषिद्ध स्वर से सहज ही स्पर्श होता है। कभी कभी कण या किसी गमक प्रयोग के बिना ऐसे खड़े स्वर का प्रयोग वैचित्रदायक अवश्य माना जायेगा, परन्तु एक या दो ही बार इस प्रकार दो स्वरों में भली-भांति ब्यापक होकर स्वरों का सुडौल चढ़ाव हुंफित गमक कहलाता है।

13: मुद्रित- मध्य सप्तक के किसी स्वर को मन्द्र सप्तक के किसी स्वर का किंचित स्पर्श देकर उच्चारित करने के कारण उसे मुद्रित स्वर कहा जाता है।

14: नामित गमक- इसके अन्तर्गत किंचित मींड़ का अंश परिलक्षित होता है, क्योंकि इसमें दो स्वरो का प्रयोग द्वारा तीसरे स्वर का स्पर्श किंचित मींड़ द्वारा किया जाता है।

15: मिश्रित गमक- साधारणतया इस प्रक्रिया में दो गमक प्रक्रियाओं का मिश्रित रूप परिलक्षित होता है। 'संगीत रत्नाकर' मे उपर्युक्त गमको के 15 मिश्रित रूप दिए गए हैं। इनके नाम इस प्रकार है-

1. तिरिप आंदोलित
2. लीन कंपित
3. कंपित आहत
4. तिरिप स्फुरित
5. लीन स्फुरित
6. स्फुरित आहत
7. लीन-कंपित-लीन
8. त्रिभिन्न-कुरूला-आहत
9. प्लावित-उल्लासित-वली
10. वली-हुंफित-मुद्रित

11. नामित-आंदोलित-वली
12. वली-नामित-कम्पित
13. आंदोलित-प्लावित-समुल्लासित-नामित
14. तिरिप-आंदोलित-वली-त्रिभिन्न-कुरूला
15. त्रिभिन्न-लीन-स्फुरित-प्लावित-आंदोलित

इस प्रकार गमक के अन्तगर्त स्वरों के विविध ढंगों से उच्चारण करने का विधान है। राग-विस्तार में स्वरोच्चार की अनेक विधियाँ हो सकती है। प्राचीन गमक का आज क्या रूप है- यह विषय तो अन्वेषण की अपेक्षा रखता है। आज 'गमक' का अर्थ भी कुछ बदल गया है तथा कुछ प्राचीन गमक के ही अन्यानेक नए नाम सामने आए हैं तथा कुछ प्राचीन गमकों के सदृश प्रतीत होते है। **'भगवतशरण शर्मा'** ने आधुनिक स्वर-सजाव के विभिन्न रूपों का प्राचीन गमक प्रकार से तुलना करते हुए विवरण दिया है यथाः तिरिप को आधुनिक हिल्लोल के समान, स्फुरित को गिटकिरी के समान, कंपित को खटका, वली को मींड़ तथा कुरूला को घसीट के समान माना है।

पार्श्वदेव ने गमक को स्वर-लगाव की दृष्टि से समझाया है। स्फुरित, कंपित, लीन, तिरिपु, आहत, आंदोलित, और त्रिभिन्न ये सात गमक बताए है।

डा. एम. आर. गौतम ने शारंगदेव और पार्श्वदेव के गमक-प्रकारों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है तथा कुछ गमक प्रकारों को स्पष्ट किया है। उनके विचार में शारंगदेव ने गति को प्रधानता देते हुए तथा पार्श्वदेव ने स्वर लगाव को प्रधानता देते हुए गमक की व्याख्या की है। तिरिप के संदर्भ मे वे लिखते हैं कि "गमक" क्रिया चक्र की भांति होती है जिससे यह प्रतीत होता है कि तिरिप गमक में स्वरों का रूप इस प्रकार होना चाहिए- नि़ सा रे सा, सा रे ग रे, रे ग म ग।

डा. गौतम ने स्फुरित गमक का रूप इस प्रकार बताया है- नि़ सा रे ग, स रे ग म, रे ग म प आदि। स्वरों का यह चलन आज अलंकार के अन्तर्गत आता है।

व्यंकटमखी प्रणीत "चतुर्दण्डीप्रकाशिका" में प्राप्त 15 गमकों का वर्णन प्राप्त हैं जो कि संगीत रत्नाकर में प्राप्त गमकों के वर्णन के निकट है।

अहोबल कृत "संगीत पारिजात" में गमक के 20 भेद वर्णित है-

1- च्यवित
2- कंपति
3- प्रत्याहत
4- द्विराहत
5- स्फुटित
6- अनाहत
7- शांत
8- तिरिप
9- घर्षण
10- अवघर्षण
11- तिकर्षण
12- स्वस्थान
13- अवग्रह
14- कर्तरी
15- पुनः स्वस्थान
16- स्फुट
17- शनैम्च्य
18- सुढालू
19- हुंफित
20- मुद्रा

ज्योतिरेश्वर कृत वर्णरत्नाकर में 7 गमकों की चर्चा है इसमें लीन, कंपित गमक के बीच विराम नही हैं। लीन, कंपित, स्फुरित, त्रिभिन्न, तिरिप, हाथत, आंदोलित।

कर्नाटक संगीत में इनमें से कई गमकों का प्रयोग आज भी मिलता है और वह गमक के नाम से ही होता है। कर्नाटक संगीत में 10 प्रकार के गमकों का प्रयोग होता है।

1. आरोणम्- स्वरों को जब क्रम से आरोहात्मक रूप से प्रयुक्त किया जाता है तो उसे आरोहणम् गमक कहते हैं। जैसे- स रि ग म प ध नि सां

2. अवरोहणम्—जब स्वरों को क्रम से अवरोहात्मक रूप में प्रयुक्त किया जाए तो वह अवरोहणम् गमक होगा। जैसे—सां नि ध प म ग रि स

3. डालु—इस गमक में एक स्वर से दूसरे स्वर को लांघते हैं बीच के स्वर को छोड़ते जाते हैं। जैसे-

स ग स म स प स ध

4. स्फुरित—स्फुरित गमक में हर स्वर को दो बार गाया जाता है। जैसे-

ग ग म म रि रि प प

5. शिवपुच्छम्—इस गमक प्रकार में द्रुत लय में हर स्वर को तीन बार प्रयोग में लाते हैं। जैसे-
रि रि रि म म म ध ध ध नि नि नि

6. आहतम्—आहतम् नामक गमक में दो स्वरों को निम्न क्रम से गाते हैं-
स रि रि ग ग म म प प ध

7. प्रत्याहतम्—इसमें दो दो स्वरों को अवरोह में क्रम मे गाते हैं। जैसे-
सां नि नि ध ध प प म म ग ग रि रि स

8. कम्पितम्—इस गमक में एक स्वर को कंपित करके गाते हैं।

9. आंदोलितम्—इसमे स्वरों को ऊपर नीचे झूले की तरह झुला कर गाते हैं। जैसे-
सा रि स प प स रि स म म स रि स ग ग

10. मूर्च्छना—राग के स्वरों को आरोह तथा अवरोह कर इस प्रकार गाते हैं कि राग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसे मूर्च्छना गमक कहते हैं।

आधुनिक गमक प्रकार

आधुनिक समय में गमक शब्द का प्रयोग विशेष प्रकार के स्वर के आंदोलन से किया जाता है। जबकि पहले स्वरों के विभिन्न प्रकार के कंपन से लिया जाता था। आधुनिक समय में हृदय से साँस के द्वारा विशेष प्रकार के कंपन पैदा कर जब स्वरों का उच्चारण करते हैं तो उसे गमक कहते हैं। दो स्वरों से उत्पन्न हुई कंपन से युक्त ध्वनि को गमक कहा जाता है, निम्न स्वर से उच्च स्वर तक मींड़ युक्त अखंड गति से जाते समय जो कंपन युक्त ध्वनि उत्पन्न होती है, उस विशेष ध्वनि को गमक कहा जाता है। यह गमक की आधुनिक समय की परिभाषा है। आधुनिक गमक प्रकारों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं-

1: कण स्वर अथवा स्पर्श स्वर- जब किसी मुख्य स्वर के पहले या बाद में अन्य स्वर का स्पर्श किया जाए तो इस अन्य स्वर को ही कण या स्पर्श कहते है। यह दो प्रकार का होता है- पूर्व लग्न कण और अनुलग्न कण ।

2: मीड़- एक स्वर से दूसरे स्वर पर, नाद को खंडित किए बिना जाने को मीड़ कहते हैं। मीड़ दो प्रकार के बताए गए हैं।

3: आंदोलन- अन्य स्वरों की छाया लेते हुए स्वर पर धीमी गति में झूलनें की क्रिया को आंदोलन कहते है।

4: खटका- एक स्वर के साथ अन्य स्वर या स्वरों के कण आघातपूर्वक लगाने से खटका निर्मित होता है।

5: मुर्की- खटका और मींड़ के संयोग से मुर्की बनती है। यथा: ग म सां (सां) नि ध अथवा म प नि (नि) ध प। यहां उत्तरार्ध मुर्की है। यह ठुमरी में विशेष रूप से प्रयुक्त होती है।

वास्तव में गमक बहुत प्रकार के होते हैं और सूक्ष्म होते है क्योंकि ये सतत रूप से श्रुतियों का स्पर्श करते रहते हैं ये स्वर को एक आकर्षण व भावनात्मक गहराई दे देते हैं तथा राग में निहित रस और भाव को अभिव्यक्त करतें हैं।

प्राचीन गमक प्रकार आज के रागदारी संगीत के लिए प्रयोज्य हैं तथा किसी न किसी रूप में प्रचलित भी हैं। फिर भी आधुनिक गमक प्रकारों के नाम भिन्न हैं। संगीत की खोज करने वाले सौन्दर्य विज्ञान के विद्वानों ने गमक को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। इनके अनुसार संगीत में सौदर्य, भावुकता, रंजकता, और आकर्षण उत्पन्न होने का कारण गमक ही है, गमक ही कण, मींड़, सूत की उत्पत्ति का कारण है।

अतः गमक संगीत के प्रमुख तत्वों में एक है जो रागों की विविधता व सौंदर्य का महत्वपूर्ण कारक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. परांजपे डा. शरच्चन्द्र श्रीधर, संगीत बोध, प्रथम संस्करण 1972, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।
2. मदन डा. पन्नालाल, संगीत शास्त्र विज्ञान, प्रथम संस्करण 1974 ई0, पंजाब किताब घर, जालंधर
3. भटनागर मधुरलता, भारतीय संगीत का सौंदर्य- विधान, प्रथम संस्करण 1994 ई0, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय।
4. शुक्ला डा. मधु, संगीत समाधान, प्रथम संस्करण 2006 ई0, पाठक पब्लिकेशन, इलाहाबाद
5. शर्मा प्रो. स्वतन्त्र, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, द्वितीय संस्करण 2012 ई0, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।

संगीत शिक्षण की समस्याएँ एवं समाधान

शर्मिष्ठा

भारतीय चिन्तन के अनुसार हमारे यहाँ चौसंठ कलाएं मानी गई है। सभी कलाओं में ललित कला विशिष्ट स्थान रखती है। सभी कलाएँ ललित कला नहीं हो सकती। ललित कलाओं में संगीत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

संगीत स्वंय रसमय है तथा परमानुभूति रस की चरम सीमा है। संगीत के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति पूर्ण साधना सिद्ध गुरू के आशीर्वाद द्वारा स्वप्रयास से ही धीरे - धीरे रसानुभूति परिपक्व होती है और अन्त में परमानुभूति की प्राप्ति होती है।

संगीत के दो मुख्य उदेश्य होते है - पहला जनरूचि के आधार पर मनोरंजन करने वाला तथा दूसरा अदृश्य फल देने वाला। धर्म, अध्यात्म, आत्मिक विकास वाला जन्म से ही समस्त प्राणियों में कुछ विशिष्ट प्रकार की मूल प्रवृत्तियाँ होती है जिनके अधीन होकर वे अपना कार्य करते हैं। मनुष्य की इन मूल - प्रवृत्तियों में परिवर्तन लाने में सहायक वस्तु 'शिक्षा' ही है। शिक्षा एक व्यापक क्रिया है जिसे संसार के सभी प्राणी न्यूनाधिक मात्रा में जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्राप्त करते है। शिक्षा मानव की सर्वांगीण उन्नति का एक ऐसा आधार है जो उसके व्यक्तित्व के विकास का कारण बनती है। शिक्षा समाज का दर्पण है। समाज को देखकर ही शिक्षण प्रणाली का अनुमान लगाया जा सकता है।

सामान्य शिक्षा मानसिक विकास की दृष्टि से तथा ललित कलाओं की शिक्षा मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों के परिष्कार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं से ही मानव चिन्तन तर्क तथा समस्याओं के समाधान करने की कुशलता से सम्पन्न होने पर ही जीवन - दृष्टि व जीवन - मूल्यों के गहनतम आदर्शों से परिचित होकर अपने व समाज के लिए एक उपयोगी इकाई सिद्ध होता है।

प्राचीन काल से ही भारतीय शिक्षा में संगीत एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। जिसके अन्तर्गत कल्पना, सूझ सन्तुलन स्वाभाविकता, आत्माभिव्यक्ति, आत्मनियंत्रण गति, व्यायाम तथा और भी अनेक गुण संगति विषय में समाहित है। संगीत शिक्षण से शारीरिक, बुद्धि का विकास भावों का मार्गदर्शन, सहनशीलता का पाठ, प्रदर्शन की योग्यता उद्देश्य प्राप्ति के लिए दृढ़ इच्छा का विकास होता है। समूहगान से एकता की भावना का विकास परस्पर सहयोग की भावना पनपती है एवं मैत्री सम्बन्धों में प्रगाढ़ता आती है।

वैदिक काल में जहाँ संगीत धर्म का पोषक था वही मुगल - काल में मनोरंजन की परिधि में सिमटकर रह गए संगीत का शैक्षिक स्वरूप 'गुरू - शिष्य परम्परा' के रूप में विकसित हुआ। यही गुरू - शिष्य परम्परा आगे पीढ़ी - दर - पीढ़ी चलकर घराना पद्धति की दूरी को तय करती हुई शैक्षणिक संस्थाओं के रूप में वर्तमान में स्थापित हुई।

वर्तमान समय में हमारी शिक्षण व्यवस्था का स्वरूप सामूहिक शिक्षा - पद्धति के रूप में परिलक्षित होता है। शिक्षाविदों में शिक्षण व्यवस्था को तीन वर्गों में विभक्त करने का प्रयास किया है -

प्राथमिक स्तर, माध्यमिक स्तर तथा विश्वविद्यालयी स्तर इसके अतिरिक्त कुछ निजी संगीत शिक्षण संस्थाएँ या विद्यालय भी है जिनकी स्थापना केवल संगीत शिक्षा के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की गई है। इन संस्थाओं या विद्यालयों के

शोध छात्र संगीत विभाग जे. डी. वीमेन्स कॉलेज, पटना।

कारण संगीत संकीर्णता के घेरे में से निकलकर व्यापक रूप में हमारे समक्ष है।

संगीत शिक्षण व्यवस्था से आज सभी विद्वतजन संगीत - प्रेमी जिज्ञासु एवं आम जनता परिचित है। यदि हम प्रत्येक स्तर पर संगीत शिक्षण - व्यवस्था का अवलोकन करे तो दृष्टिगोचर होगा कि बाल - शिक्षा विद्यार्थी जीवन की नीव है। बाल संगीत - शिक्षा संगीतज्ञ एवं संगीत शास्त्रकार बनाने की बुनियाद है। इस बुनियाद पर ही संगीत कला का उच्चस्तरीय भवन खड़ा किया जा सकता है। संगीत - शिक्षा का उद्धेश्य केवल कलाकार बनाना ही नहीं बल्कि संगीत के माध्यम से उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना होता है। ताकि वह कम उम्र में खेल - खेल में ही प्रारम्भिक स्तर का ज्ञान अर्जित कर सके। आज प्राथमिक स्तर पर संगीत - शिक्षा का स्वरूप केवल हॉबी क्लासेज के रूप में ही देखने को मिलता है, केवल कुछ गीत सिखा देना ही संगीत -' शिक्षा नहीं है। बाल - वर्ग के संगीत की विषय वस्तु में शास्त्रीय रागदारी भले ही न हो, लेकिन उसमें भारतीय शास्त्रीय संगीत व लोक-गीतों के सरल तत्वों का समावेश अवश्य होना चाहिए।

विश्वविद्यालयी स्तर पर संगीत शिक्षा व्यवस्था कई समस्याओं कमियों से घिरी हुई है। स्नातकोत्तर स्तर पर उपाधि लेने के बाद छात्र से ऐसी आशा की जाती है कि उसने उस विषय में निपुणता प्राप्त कर ली है। शैक्षणिक स्तर को ध्यान में रखते हुए छात्र उस स्तर पर खरे नहीं उतरते। गायन के विद्यार्थी को तानपुरा मिलाना तो दूर बजाना तक नहीं आता। उसमें सृजनात्मक प्रवृति की अपेक्षा अनुकरण की प्रवृति पर अधिक झुकाव दिया जाता है। पाठ्यक्रम बहुत सोच - समझकर सुनिश्चित किया जाना चाहिए। पाठ्य - पुस्तकों का प्रकाशन पाठ्यक्रमानुसार विश्वविद्यालय द्वारा होना चाहिए। कालांश की समयावधि भी कम है। विश्वविद्यालय स्तर की संगीत - शिक्षा को रोजगारोन्मुखी बनाना वर्तमान समय की आवश्यकता है। इसके लिए प्रोफेशनल कोर्स चलाए जा सकते है। शोध के सम्बन्ध में भी हम देख रहे हैं कि पुनरावृत्ति अधिक हो रही है। इससे शोध के स्तर में गिरावट आई है।

अतः संगीत शिक्षा के भवन को मजबूत बनाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि प्राथमिक स्तर की संगीत - शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाए। इससे विश्वविद्यालय - स्तर तक स्वतः ही सुधार होंगे।

आज वैज्ञानिक युग में संगीत शिक्षा की प्राचीन परम्परा में नवीन प्रयोग करके मनोविज्ञान को आधार मानकर शिक्षा व्यवस्था की जानी चाहिए। शीघ्र ही इन सभी विन्दुओं पर ध्यान देने की अनिवार्य आवश्यकता है अन्यथा यह विषय अन्य विषयों कि तुलना में पिछड़ा ही रह जाएगा। शिक्षकों कलाकारों एवं संगीत प्रेमियों के सहयोग से इस कार्य को आगे बढ़ाने का बीड़ा सरकार को उठाना चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. ऋषितोष डॉ. कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आयाम
2. संगीत पत्रिका, संगीत कार्यालय, हाथरस (उ.प्र.)

पाटलिपुत्र की सांस्कृतिक गरिमा में ललित कलाओं का योगदान

डॉ. सुचित्रा कुमारी मंजुल

पाटलिपुत्र नाम के साथ 'पाटलि' शब्द का अपना विशिष्ट स्थान है। भविष्यपुराण के ब्रह्मखंड में वर्णन आया है कि राजा 'कुशनाभं के पुत्र राजांगाधि' हुए हैं। उनकी रूपवती एवं सुलक्षणा पुत्री 'पाटलि' थी। कौन्डन्य मुनि उसके गुणों से प्रभावित हो गए और उसके स्नेहपाश में बंधकर उसकी हर इच्छा को पूर्ण करने का आश्वासन दे दिया। राजकुमारी पाटलि ने उनसे एक सुरभ्य नगरी गंगा तट पर बनवाने की इच्छा व्यक्त की। राजकुमारी पाटलि के मनोभावों के अनुरूप मुनि ने एक सुरम्य नगरी का निर्माण कराया और उसका नाम 'पाटलिग्राम' रखा जो कालांतर में पाटलिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जैन ग्रंथ 'सीरावली' के अनुसार भद्रपुर के राजा पुष्पकेतु थे, उनकी पत्नी का नाम पुष्पवती था। उनकी दो पुत्रियाँ थीं। एक का नाम 'पुष्पचूल' तथा दूसरी का नाम 'पुष्पचूला' था। राजा ने अपनी पत्नी तथा पुत्री के नाम पर पुष्पपुर नगर गंगा के तट पर बनाया था। प्राचीन अभिलेखों के अनुसार मौर्य वंश के राजा 'उदायि' या उदायिन ने पाटलिपुत्र नगर बसाया था। यह राजा बिंबिसार का प्रपौत्र तथा अजातशत्रु का पौत्र था। उनके समय में इसका नाम कुसुमपुर, पहनपुर, पालिग्राम, पालिवोथा तथा अजीमाबाद था। 'तारिक शेरशाह में शेरशाह द्वारा पटना का विस्तार एवं सुविधापूर्ण करवाने का वर्णन है।

मौर्य काल से पूर्व पाटलिपुत्र का नाम मगध था। मगध में नंद वंश का राज्य था। नंद वंश का राजा घनानंद ललितकलाओं का सम्मान करने वाला था। उसके राज्य में संगीत, नृत्य की सभी जगह के लिए रंगमंच बना था जिसमें संगीतज्ञ तथा नर्तकियों की भरमार थी। कलाकृतियों तथा सुरम्य महलों में रत्नजड़ित नृत्यशालाएँ थीं। उस काल की अनुपम सुन्दरी तथा नृत्य की विभिन्न शैलियों की ज्ञाता 'कोशा' थी। उसे राजनर्तकी का सम्मान प्राप्त था। वह 'नगरवधू' की उपाधि से विभूषित थी। कहा जाता है कि उसने राई के ऊपर नृत्य प्रस्तुत कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया था।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने कुम्हरार नामक स्थान में चौंसठ खम्भों वाला महल बनवाया था जिसकी पुष्टि पुरातत्ववेत्ताओं ने अपनी खोज में की है। मौर्य की चमरधारिणी यक्षणी की मूर्ति दीदारगंज पटना से प्राप्त हुई है जिसकी पॉलिसदार प्रस्तर का कौशल अपने आप में पूरे संसार के कला प्रेमियों को सम्मोहित करता है। कुवलयामालकहा ग्रंथ के अनुसार पाटलिपुत्र के 14 नामों का वर्णन मिलता है। औरंगजेब का पौत्र 'अजीमुलशाह' ने पाटलिपुत्र का नाम बदलकर अजीमाबाद रखा था। मुगलकाल से लेकर अंग्रेजों के शासनकाल तक इस नगर में संगीत नृत्य की अनेक रंगशालाएँ थीं। अधिकतर पटना सिटी के मछरहट्टा मुहल्ले में थी जहाँ नृत्य संगीत की शिक्षा दी जाती थी तथा रईसजादे तथा धनाढ्य लोग महफिल सजाया करते थे और संगीत के विभिन्न रागों पर वार्तालाप होता था। यहाँ की तवायफें शादी, ब्याह और अन्य अवसर पर अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। चैत के महीने में सभागार में तथा मुख्य चौराहों को फूलों से सजाकर नृत्य, संगीत का

एम.एफ.ए., चित्रकार, (स्वर्ण पदक विजेता)

कार्यक्रम होता था। आजादी के बाद यह प्रथा धीरे-धीरे बंद हो गया और संगीत समारोह विशेषकर दुर्गापूजा में होने लगा। यहाँ देश के मूर्धन्य तथा विख्यात संगीतकारों, नर्तकों का कार्यक्रम हो चुका है। संगीत सम्राट् ओंकारनाथ ठाकुर, भीमसेन जोशी, गोपीकृष्ण के भाई बालकृष्ण, अहमदजान थिरकवा, कंठे महराज, किशन महराज, गोदई महराज, सितारा देवी, उर्मिला नागर, बिस्मिल्ला खान, अमजदअली खान आदि प्रमुख थे।

भगवान बुद्ध जब पाटलिपुत्र पधारे उस समय नगर के चारों ओर चौंसठ दरवाजे वाला किला बन रहा था। उन्होंने अपने शिष्यों को कहा था कि इस नगर को आग और बाढ़ का खतरा बना रहेगा। भगवान महावीर ने यहाँ उपदेश दिया था। जैन धर्म से संबंधित भगवान महावीर के उपदेश भोजपत्र तथा तालपत्र पर चित्रों के साथ बहुतायत से बनाए गए थे जो पटना संग्रहालय, चैतन्य पुस्तकालय, चन्द्रधारी संग्रहालय तथा जैन दिगम्बर मन्दिर पटना में देखने को मिल सकता है।

महर्षि वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है जिसमें 1 गीतम् 2 वाद्ययम् 3 नृत्यम् 4 आलेख्यम् मुख्य हैं अर्थात् संगीत, वाद्य, नृत्य तथा चित्रकला का प्रमुख स्थान है। मुगलकाल में यहाँ एक सौ से अधिक नवाब थे तथा अनेक रईस रहा करते थे। वे अपने यहाँ संगीतज्ञों, नर्तकों तथा चित्रकारों को प्रश्रय देते थे। रायबहादुर जालान, राय वृजराज कृष्ण, राय मथुरा प्रसाद, झाउलाल, राजा रामनारायण आदि कला को प्रश्रय देने वाले प्रसिद्ध थे।

पटना के घरानेदार संगीतज्ञ मुकुट गुरू केदार मिश्र, प्रहलाद मिश्र, हरिनारायण कपूर, लल्लू लाल गन्धर्व, श्यामदास मिश्र आदि मुख्य थे। नृत्यगुरू बलराम लाल, मधुकर आनंद, श्री नगेन्द्र मोहिनी का योगदान कला साधकों के लिए मार्गदर्शन करता है। मुगलकाल में जहाँ मुगलशैली का प्रचलन था, अनेक चित्रकारों ने अपनी कला से अजीमाबाद का नाम रौशन किया था। उनकी कला खुदाबख्श खाँ पुस्तकालय में संग्रहीत है। 1770 ई. के आसपास दिल्ली में औरंगजेब के शासनकाल में कलाकारों का प्रश्रय बंद-सा हो गया तो चित्रकारों का दल वहाँ से भागकर मुर्शिदाबाद, बनारस, मथुरा, पटना आ गया।

पटना आकर ये चित्रकार पटना सिटी के लोदी कटरा मुहल्ले में बस गए। ये सभी कायस्थ परिवार के थे। सेवकराम चित्रकार (1770 ई.-1830 ई.) ये लगभग 1790 ई. के आसपास अपने शागिर्दों के साथ पटना आए। इनमें हुलासलाल, झुमकलाल, जयरामदास, फकीरचंद प्रमुख थे। इन चित्रकारों को 'मुस्शविर' कहा जाता था और जहाँ काम करते थे उसे "मुस्शविरखाना" कहते थे। इसके अलावा टुनीलाल, शिवदयाल लाल, शिवलाल, साहिब मुकुन्दलाल, दक्षो बीवी, सोना बीवी हीरालाल, निसार मेंहदी, मुंशी महादेव लाल, ईश्वरी प्रसाद वर्मा, राधेमोहन बाबू प्रमुख थे। ये मुस्शविर कागज पर, हाथी दाँत के पटल पर या अवरख पर चित्र बनाते थे। कई कागजों को विशेष विधि से तैयार लेई से चिपकाते। सूख जाने पर 'घोटाई' करते थे तथा फिर उस पर 'टिपाई' (स्केच बनाना) करते थे। इसके बाद रंगसाजी तथा फिर नक्काशी करते थे।

ये अधिकतर वनस्पति रंग और खनिज रंग का प्रयोग करते थे। रंगीन पत्थरों को घिसकर छानकर तथा गोंद या सरेस मिलाकर बहुत ही सावधानी से रंग लगाते थे। महीन काम करने वाले को 'नक्काश' कहा जाता था। इन्होंने चित्र बनाने के लिए समाज के पात्रों को चुना था। जैसे- लोहार, चर्मकार, सोनार, तेल पेरने वाला, सफाई करने वाला, बर्त्तन बनाने वाला, चिड़ियों या पक्षियों को पालने या लड़ाने वाला, दुकानदार आदि। कुछ लोग वेगमों या संगीतकारों का चित्र बनाने में माहिर थे।

प्राचीन पटना जिसे पटना सिटी का मछरहट्टा कहा जाता है 'मौरी' या मुकुट, गोढा, जरदारी, माला आदि सजावटी सामान बनाने की कला में अग्रगण्य थे। आज भी उनके वंशज यह काम करते हैं जो पूरे बिहार तथा अन्य प्रातों में व्यापार किया जाता है। मकर संक्रांति के समय जिसे सतुवानी भी कहते हैं देवी को प्रसन्न करने के लिए लोग अपने पसली या अन्य जगह पर बरछी भोंककर नृत्य करते हैं। इसे 'पिंजरभोकवा' मेला कहा जाता है जो प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है और पटना की संस्कृति का एक हिस्सा है।

हमारा नगर पाटलिपुत्र आज पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित हो रहा है। इन कलाओं को बचाकर हम पाटलिपुत्र की गरिमा को अक्षुण्ण रख सकते हैं। ऋग्वेद के जगति छन्द में संस्कृति के साथ विकृति का वर्णन है, अर्थात् विकृतियों से संस्कृति को बचाना हमारा दायित्व है। दूसरे शब्दों में संस्कृति के श्वेतपक्ष को श्यामपक्ष से बचाकर रखने में ललित कलाओं का सहयोग अपेक्षित है।

संदर्भ सूची

1) विष्णुधर्मोत्तर पुराण-चौखम्भा प्रकाशन
2) चित्रसूत्र
3) वाचस्पति शास्त्री गैरोला, भारतीय चित्रकला का इतिहास, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद।
4) वर्मा श्याम, पटना कलभ
5) पंडित यशोधर, जयमंगला टीका
6) सिन्हा सत्यदेव नारायण, पाटलिपुत्र का इतिहास
7) अखण्ड ज्योति मासिक पत्रिका-मथुरा से प्रकाशित
8) वर्मा डॉ. अविनाश बहादुर, भारतीय चित्रकला का इतिहास
9) बरेरिया तारकनाथ, भारतीय चित्रकला का इतिहास, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली
10) नाट्यशास्त्र-चौखम्भा प्रकाशन
11) Indian Art through the age-publication division, Govt. of India
12) Looking again at Indian Art-Vidya Dahelia-publication division, Govt. of India
13) बिहार का सांस्कृतिक विरासत- बिहार सरकार आदि लेख एवं पटना संग्रहालय, चंद्रधारी संग्रहालय, चैतन्य पुस्तकालय, खुदाबख्श लाईब्रेरी के परिभ्रमण से ज्ञात।

दक्षिणात्य सप्त स्वर व उनके सोलह नामों की उपयोगिता एवं महत्ता

श्वेता केशरी

सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित संगीत की अन्य पद्धतियों के समान कर्नाटक संगीत में भी सप्त स्वर माने गये हैं जिनके नाम क्रमशः षड्ज, रिषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत व निषाद हैं। व्यवहार में गाते बजाते समय इन्हें सा, रि, ग, म, प, ध, नि वर्णों से उच्चारित किया जाता है, जिनमें से रि, ग, ध, नि स्वरों के कोमल व तीव्र भेद के फलस्वरूप स्वरों के द्वादश स्वर स्थान बताये गये है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है-

नाम	संक्षिप्त नाम (चिह्न)
षड्ज	ऽ
शुद्ध रिषभम्	$त_1$
चतुःश्रुति रिषभम्	$त_2$
साधारण गन्धारम्	$ह_1$
अन्तर गन्धारम्	$ह_2$
शुद्ध मध्यमम्	$उ_1$
प्रति मध्यमम्	$उ_2$
पंचमम्	च
शुद्ध धैवतम्	$क_1$
चतुःश्रुति धैवतम्	$क_2$
कैशिकी निषादम्	$द_1$
काकली निषादम्	$द_2$

इन बारह स्वर स्थानों को संक्षिप्त रूप में उपर बताये गये नामों (चिह्नो) से भी सम्बोधित किया जाता है, किन्तु कर्नाटक संगीत में इन बारह स्वर स्थानों के अतिरिक्त इनके 16 नाम भी बताये गये है, जो कि रि, ग, ध, नि स्वरों के वैकल्पिक नाम अर्थात् दो-दो नामों का परिणाम है। जिसे नीचे दिये गये तालिका में स्पष्ट किया गया है।

तालिका

षड्ज(ऽ)	शुद्ध रिषभम्($त_1$)
चतुःश्रुति रिषभम्($त_2$)	साधारण गान्धारम्($ह_1$)
अन्तर गान्धारम्($ह_2$)	शुद्ध मध्यमम्($उ_1$)
प्रति मध्यमम्($उ_2$)	पंचमम्(च) शुद्ध
धैवतम्($क_1$)	चतुः श्रुति धैवतम्($क_2$)
कौशिकी निषादम्($द_1$)	काकली निषादम्($द_2$)

षड्ज(तार सप्तक)(ऽ)	($त_1$)	($त_2$)
शट्श्रुति रिषभम्($त_3$)	($क_1$)	($क_2$)
शट्श्रुति धैवतम् ($क_3$)		
शुद्ध गान्धारम्($ह_1$)	($ह_2$)	($ह_3$)
शुद्ध निषादम्($द_1$)	($द_2$)	($द_3$)

(कोष्ठक में स्वरों के संक्षिप्त नाम दिये गये हैं)

जैसा कि प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है कि चतुःश्रुति रिषभम् ($त_2$), साधारण गान्धारम् ($ह_1$), चतुःश्रुति धैवतम् ($क_2$) तथा कैशिकी निषादम् ($द_1$) का एकान्य नाम क्रमशः शुद्ध गान्धारम् ($ह_1$), षट्श्रुति रिषभम् ($त_3$), शुद्ध निषादम् ($द_1$), व षट्श्रुति धैवतम् ($क_3$) भी है। अतः इस प्रकार 12 स्वर स्थानों में से रि, ग, ध, नि स्वरों के एकान्य नाम के फलस्वरूप कुल 12 + 4 = 16 नाम स्वरों के बताये गये है। स्वरों के यह 16 नाम कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के महान संगीत शास्त्रज्ञ "पं. व्यंकटमखी जी" ने 17वीं शताब्दी के लगभग बताया।

किन्तु अब यह प्रश्न उठता है कि इन स्वरो के 16 नाम क्यों दिये गये, इसकी संगीत में क्या उपयोगिता एवं महत्ता है।

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

अतः इसका अन्तर जानने के लिए हमें पं. व्यंकटमखी जी द्वारा गणित के आधार पर बनाये गये 72 मेलो की निर्माण प्रक्रिया को समझना होगा क्योंकि स्वरों के इन 16 नामों का प्रयोग इन्ही 72 मेलों के निर्माण में किया गया है।

मेल निर्माण प्रक्रिया-

इस प्रक्रिया केअन्तर्गत सर्वप्रथम व्यंकटमखी ने सप्तक को दो बराबर भागों में बाँटने के लिए सप्तक को अष्टक का रूप देते हुए सप्तक में तार सां का भी प्रयोग किया तथा उसे दो बराबर भाग सा, रे, ग, म - प, ध नि, सां में बाँटा तथा स्वरों के बताये गये 16 नामो के प्रयोग से 12 चक्रों का निर्माण किया, जिसमें से प्रथम 6 चक्रों का निर्माण शुद्ध मध्यम् से किया व अन्तिम 6 चक्रो का निर्माण प्रति मध्यम् (तीव्र मध्यम्) से किया। जो इस प्रकार है-

शुद्ध मध्यम से-

पूर्वांग	उत्तरांग
1. s, r_1, g_1, m_1	p, d_1, n_1, s
2. s, r_1, g_2, m_1	p, d_1, n_2, s
3. s, r_1, g_3, m_1	p, d_1, n_3, s
4. s, r_2, g_2, m_1	p, d_2, n_2, s
5. s, r_2, g_3, m_1	p, d_2, n_3, s
6. s, r_3, g_3, m_1	p, d_3, n_3, s

तीव्र मध्यम से

पूर्वांग	उत्तरांग
7. s, r_1, g_1, m_2	p, d_1, n_1, s
8. s, r_1, g_2, m_2	p, d_1, n_2, s
9. s, r_1, g_3, m_2	p, d_1, n_3, s
10. s, r_2, g_2, m_2	p, d_2, n_2, s
11. s, r_2, g_3, m_2	p, d_2, n_3, s
12. s, r_3, g_3, m_2	p, d_3, n_3, s

इस प्रकार पूर्वांग के प्रत्येक चक्रो को क्रमशः उत्तरांग के प्रत्येक चक्र से मिलाकर शुद्ध मध्यम से कुल 36 मेलो का निर्माण हुआ तथा इसी प्रकार तीव्र मध्यम का प्रयोग कर इसी प्रक्रिया के द्वारा पुनः 36 मेलो का निर्माण हुआ अर्थात् कुल मिलाकर 36 + 36 = 72 मेलों का निर्माण किया।

जैसा कि उपरोक्त प्रक्रिया से स्पष्ट है कि पं. व्यंकटमखी जी ने स्वरों के 16 नामों का प्रयोग सम्भवतः अधिक से अधिक मेलो का निर्माण करने के लिए किया। जिससे कि मेलो के वे प्रकार जो स्वरो के वैकल्पिक नामों के अभाव में नहीं बनाये जा सकते थे, उनको भी स्वरों के वैकल्पिक नामों के प्रयोग से बनाया जा सके। इन 12 चक्रों में से पहले, छठें, सातवें एवं बारहवें चक्र को उन्होने विवादी कहा, क्योंकि इन चक्रों में वैकल्पिक संज्ञा वाले स्वरों के दोनों नामों का एक साथ प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ-`ए $त_1$ए $ह_1$ए $उ_1$ अर्थात् षड्ज, शुद्ध रिषभम्, शुद्ध गान्धारम् (जो कि चतुःश्रुति ऋषभम् का ही दूसरा नाम है), शुद्ध मध्यमम्। इसी प्रकार छठवें, सातवें व बारहवें चक्रों का निर्माण भी वैकल्पिक संज्ञा वाले स्वरों के दोनों नामों के एक साथ प्रयोग से किया गया है। अतः इन चक्रों के परस्पर संयोग से जितने भी मेल बने उन्हें पं. व्यंकटमखी ने विवादी मेल की संज्ञा दी है।

जबकि इसके विपरीत हिन्दुस्तानी संगीत मे चूंकि एक स्वर के दो प्रकारों का प्रयोग एक साथ किसी राग में वर्ज्य माना जाता है इसलिए हिन्दुस्तानी संगीत में गणितानुसार 32 थाटों का निर्माण हुआ। जिसमें से 10 थाट आज वर्तमान में प्रचार में है। हालांकि वर्तमान में ऐसे बहुत से राग प्रचार में है जिनमें एक स्वर के दोनों प्रकारों का प्रयोग किया जाता है किन्तु थाट व्यवस्था के अन्तर्गत वे किसी थाट में नहीं माने जाते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. Sambmoorthy P., South Indian Music
2. Leela Dr. S.V., Indian Music Series; Book No. - I, II, III
3. Janakiraman Prof. S.R., Essentials of Musicology in South Indian Music

वेदों में वाद्यों की उपयोगिता

ज्योत्सना सागर

आदिम युग से ही संगीत मानव जीवन का अभिन्न अंग रहा है। जन-जीवन का प्रत्येक कार्य चाहे वह अनुष्ठान हो या परमात्मा की अराधना, किसी न कि किसी रूप में संगीत के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। प्राचीन भारतीय संगीत का विवरण वैदिक काल से प्राप्त होता है। भारतीय संगीत का सबसे प्राचीन, नियमित एवं सुसम्बद्ध रूप वेदों में मिलता है। वेदों में सामवेद को संगीत का वेद माना गया है। वैदिक काल में संगीत को उच्च सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। इस समय वीणा वाद्य का प्रयोग होने लगा था। जो पूर्णतः सांगीतिक वाद्य था।

ऋग्वेद प्राचीनतम वेद माना जाता है। इस ग्रन्थ में संगीत सम्बन्धी सामग्री मिलती है। ऋग्वेद काल में तीनों प्रकार के वाद्य तन्तु, अवनद्ध तथा सुषिर वाद्यों का पूर्ण विकास हो चुका था। ऋक् संहिता में उन मन्त्रों का संग्रह है जिनके द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती थी। यह छन्दोबद्ध है। ऋग्वेद में वीणाओं में 'वाण' नामक वीणा का सर्वाधिक महत्व माना गया है। ऋग्वेद में वीणा शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है, किन्तु इसी अर्थ में अन्यत्र 'वाण' वाद्य तथा सप्त स्वरों का उल्लेख मिलता है। अवनद्ध वाद्यों में सामगान में ताल की संगति के लिए दुन्दुभि एवं भूमि दुन्दुभि नामक वाद्यों का उल्लेख मिलता है। दुन्दुभि की धीर-गम्भीर ध्वनि का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। इसके अतिरिक्त गर्गर तथा गोधा नामक वाद्यों का नाम भी प्रकाश में आया है। इनका निर्माण साम गायकों ने ही किया था। ऋग्वेद में दो सुषिर वाद्यों का उल्लेख मिलता है, नाली (नाड़ी) और बाकुर। नाली (नाड़ी) नामक वाद्य में नली होती थी। जिसमें छेद होते थे। नाली के विषय में कहा है कि यह देवताओं द्वारा निर्मित हुआ है। यह नाली उसके प्रीत्यर्थ बजाई जाती है। यह स्तुतियों से तुष्ट होता है।

यजुः संहिता में सर्वप्रथम वीणा शब्द का प्रयोग हुआ। ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्रकाल तक वीणा के विशिष्ट प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु उनके आकार-रूप का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सूत्र वाङ्मय के अनुसार यजमान की पत्नियाँ उपगान के साथ विविध वीणाओं के द्वारा 'उपवादन' भी किया करती थी। हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र के अनुसार सामगान के साथ उपपत्नियाँ, अपघाटलिका, अघाटी पिच्छोला, कर्कटिका, स्तम्बलवीणा, तालुकवीणा, काण्डवीणा, अवाबु तथा कपिशीर्षणी वीणावादन करने के साथ गाते हुए संगति करती थी। ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्रकाल में संगीत की विशेष उन्नति हुई तथा वीणा में भी कई परिवर्तन हुए। वीणा वादन के लिए 'नखी' शब्द का प्रयोग मिलता है।

यजुर्वेद में अवनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि तथा भूमि दुन्दुभि की धीर-गम्भीर ध्वनि का गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ है।

सुषिर वाद्यों में तूण नामक वाद्य था जो बांसुरी जैसे मुख से फूंककर बजाया जाता था। इसके अतिरिक्त शंख, तूणव, पावा आदि सुषिर वाद्यों का वर्णन मिलता है।

अथर्ववेद में 'वाण' के स्थान पर वाण शब्द का उल्लेख है औदुम्बर की लकड़ी से निर्मित वीणा दण्ड के नीचे भाग में दस बड़े छेद करके प्रत्येक छेद

शोध छात्र, वाद्य संगीत विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

मौन्जा की बनी दस-दस तंत्रियाँ पिरोये जाते थे, इस प्रकार सौ तार लगाये जाते थे, तब उसे वाण वाद्य कहते थे। तारों पर आघात करते समय तथा तारों को पिरोते समय विधिवत निर्धारित मंत्रों का उच्चारण किया जाता था जिससे ज्ञात होता है कि यज्ञ में वीणाओं का वादन विशिष्ट धार्मिक क्रियाओं का अभिन्न अंग था।

सुषिर वाद्यों में वेणु अर्थात् वंश नामक वाद्य का उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है। पूर्व-वैदिक काल में 'वेणु' बहुधा बाँस के लिए प्रयुक्त किया गया था। वंशी वेणु द्वारा ही निर्मित होती है, इसलिए वंशी का तादात्म्य वेणु से हो गया। वेणु का प्रयोग सामगाान में होता था।

अवनद्ध वाद्यों में दुन्दुभि तथा भूमि दुन्दुभि का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। वेदों में कहा गया है कि दुन्दुभि द्वारा शत्रुओं को परास्त किया जा सकता है। दुन्दुभि की गर्जना वीरों के हृदय में पौरूष तथा शत्रुओं के हृदय में आतंक का संचार एक साथ ही करती है। दुन्दुभि रणवाद्य तो थी ही, लेकिन यज्ञ जैसे धार्मिक कृत्यों में भी उसका उपयोग अभिप्रेत था। सामगायन के साथ दुन्दुभि का वादन होता था। यज्ञ वेदी के चारों ओर इसे प्रस्थापित किया जाता था। वाजपेय याग में जब साम का तीन बार गायन होता था तो वेदी के समीप बँधी सत्रह दुन्दुभियाँ बजाई जाती थी। महाव्रत यज्ञ के अवसर पर भी भूमि दुन्दुभि का वादन होता था।

धातु या लकड़ी का वाद्य जो आघात से बजाया जाता है 'घन वाद्य' कहलाता है। वेदों में घन वाद्यों के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय घन वाद्यों का प्रचार केवल जनजीवन तक ही सीमित रहा होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. परांजपे डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास
2. शर्मा प्रो. स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण
3. संगीत पत्रिका - जनवरी 2007 ई0
4. छायानट - अप्रैल - जून, 2007 ई0

ध्रुपद में लय, ताल का महत्व व सैद्धान्तिक विचार

प्रतिभा सिंह

ध्रुपद शैली आज परिचित होते हुए भी अपरिचित हो गई है। परन्तु इसकी महत्ता प्रायः सभी विचारक व संगीतज्ञ स्वीकार करते है। आज ख्याल का युग है, परन्तु इस ख्याल के युग में भी श्रेष्ठ, गायक वादक, विचारक से ध्रुपद शैली की महत्ता सुनी जाती है। आज के इस वैज्ञानिक युग में किसी वस्तु की प्रशंसा मात्र करके उसकी श्रेष्ठता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि प्रशंसित वस्तु की उपयोगिता व्यवहारिकता व वैज्ञानिकता आदि पर विचार करते हुए प्रत्यक्ष तर्क व प्रमाणों से उसकी श्रेष्ठता की पुष्टि करनी पड़ती है। तभी उसे आज का युग ग्राह्य करता है। यदि पुराने विचार या रीति-रिवाज, परम्परा आदि न हो तो नए विचारों को प्रेरणा आदि कहाँ से मिलेगी और उचित व अनुचित, ग्राह्य व अग्राह्य आदि का ज्ञान कैसे होगा। इसलिए ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, व्यवहारिक आदि सभी दृष्टियों से प्राचीनता पर विचार करना आवश्यक है।

जब हम ध्रुपद की प्राचीनता पर विचार करते हैं तो रचनात्मक दृष्टि से ध्रुपद की पूर्व प्रचलित शैलियों की झाँकी गुजर जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो प्राचीन शैलियों की एक झलक 'ध्रुपद' के माध्यम से हमें सुनने व समझने को मिल जाती है। ध्रुपद गायन का प्रचार होने से पूर्व भारतीय संगीत में प्रबंध वस्तु, रूपक, आदि गीत शैलियों का प्रचार था। प्रबंध गान से पूर्व ध्रुवा गीत की चर्चा हमें शास्त्रों से प्राप्त होती है। वाक्य, वर्ण, अलंकार, यति, पाणि, लय-जहाँ ध्रुव रूप में परस्पर संबंद्ध रखे हो, उसे ध्रुवा कहा जाता है, ध्रुवा गान नाटक के आदि, मध्य, एवं अन्त में होता था जिसके अनेक भेद थे। इसी का अभाव हिन्दी नाटक के युग में भी हमें देखने को मिलता है। नाटक के प्रारम्भ में प्रायः सूत्रधार द्वारा की गई ईश्वर-स्तुति ध्रुपद की ही होती है। ध्रुवा और ध्रुपद का सम्बन्ध स्थापित करने में इस पद्धति से विशेष सहायता मिल सकती है। ध्रुवा गान के पश्चात प्रबंध गान का काल आया, प्रबंध के छह अंग होते है। जिन्हें क्रमशः स्वर, पद, पाट, तेनक ताल, विरूद कहा जाता है।

स्वर- सा रे ग म इत्यादि स्वरोच्चारण को कहते है।

विरूद- गीत में प्रस्तुत नायक की वंश परम्परा, कुल नाम का वर्णन विरूद कहलाता है।

पद - नायक के गुणों का वर्णन 'पद' कहलाता है।

पाट- 'तक' 'तनादि' आदि अवनद्य वाद्यों के बोलों से बद्ध साहित्य का नाम है।

ताल - एक ही प्रबंध में भिन्न-भिन्न ताल साहित्य के अंगों के प्रयोग को ताल कहते है।

तनेक - 'तेन' आदि शब्दों के साथ आलाप करने को तेनक कहते है।

प्रबंध रचना में सब अंगों की अनिवार्यता नहीं है। इसलिए प्रबंध द्वयंग, त्र्यंग, चतुरंग, पंचांग आदि भी होते है। प्रबंध के चार धातु उदग्राह मेलापक ध्रुव और आभोग है। प्रथमांग उदग्राह। तृतीयांग ध्रुव को मिलाने के कारण दूसरे अंग का नाम मेलापक पड़ा। ध्रुव की अनिवार्यता के कारण ही उसका अंग का नाम पड़ा। उक्त प्रबंधों के धातुओं व अंगों को यदि ध्यान से देखा जाय तो विदित होगा कि ध्रुपद गायन

शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

के रूपान्तर व नामान्तर के साथ प्रबंध के अंग व धातु आज भी विद्यमान है। स्थायी, अन्तरा, संचारी, आभोग नामों से ध्रुपद के चार अवयव है। चिन्तामणि मिश्र, बैजू, गोपाल आदि के ध्रुपद आज भी प्राप्त हैं इन सब प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर यह दृढ़ता से कहा जाता है कि प्रबंध आलाप के जो नियम थे, वे सब कुछ आज परिवर्तन के साथ ध्रुपद गायन के आलाप में मिलते हैं। अनिबद्धगान की रूपकालाप्ति का लयबद्ध रूप आलाप के संचारी भाग में पूर्णतः परिलक्षित होता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से जिस परम्परा का महत्व होता है, इतिहास के अन्वेषकों को जिससे बड़ी सहायता मिलती है। वह ध्रुपद में पूर्ण रूप से विद्यमान है। ध्रुपद गायन का मुख्य आधार राग, ताल, लय, एवं भाव है। ध्रुपद गायन में ताल एवं लय का बहुत महत्व है। ताल ज्ञान की निर्भिकता और परिपक्व अवस्था प्राप्त कराने में ध्रुपद शिक्षा की अनिवार्यता को भुलाया नहीं जा सकता है। लय के अनेक रूपों सम, विषम, अतीत, अनागत आदि ग्रहों तिहाई, बाट आदि लय विस्तार के उपकरणों का ज्ञान ध्रुपद शैली के माध्यम से पूर्ण रूप से होता है।

अनिबद्ध या तालविहीन संगीत आरण्यक संगीत है तथा निबद्ध या तालयुक्त संगीत सामाजिक संगीत है। बिना ताल के केवल स्वरों का आनन्द हृदय में उल्लास व उत्तेजना का सृजन करने में असमर्थ होता है एवं अनिबद्ध संगीत के निरन्तर श्रवण से हृदय में उदासीनता आ जाती है। संगीत में छन्द और ताल ही यथार्थतः स्वरों को गति प्रदान करते है। काल क्रिया के नाम को ही ताल कहते है। ताल संगीत को एक निश्चित नियम या समय के बन्धन में बाँधता है। ताल संगीत को अनुशासित कर उसके सुगठित रूप, स्थायित्व एवं चमत्कारिकता से श्रोताओं को विभोर कर देता है। ताल के ही कारण प्राचीन एवं वर्तमान संगीत को स्वर एवं बोल लिपि द्वारा भविष्य के लिए सुरक्षित रखना सम्भव हो सका है।

ध्रुपद शैली के आधारभूत तत्वों स्वर बंदिश तथा शैली की भाव प्रतिष्ठा इत्यादि इन तीनों का समुचित अस्तित्व तालाश्रित है।

पं. शारंगदेव के अनुसार 'जिस प्रकार देह का सौंदर्य मुख से और मुख की शोभा नासिका (नाक) से है। उसी प्रकार गीत की शोभा ताल से है। ग्रन्थकार ताल विहीन संगीत को नासिका विहीन मुख की संज्ञा से परिभाषित करता है।

संक्षेप में ताल विहीन संगीत बिना पतवार के नाव के समान है। ध्रुपद गायन तथा वादन में संगत के लिए प्रयुक्त वाद्यों में तबले की अपेक्षा मृदंग या पखावज की संगति अति उत्तम मानी गयी है। चूंकि ध्रुपद शैली की अधिकतर रचनाएं आज चौताल में निबद्ध पायी जाती है। अतः पखावज पर खुले बोलों के प्रस्तार से गंभीर तथा ध्वनि का संचार गायकी में अधिक निखार लाता है। तालों में यह मुक्त वादन थापिया बाज कहलाता है।

बंदिश के मध्य किए गए बोल आलाप, बोलबाँट तथा लयकारी इत्यादि सभी पक्षों में ताल की निरंकुशता सदैव बनी रहती है। इस प्रकार लय के अनेक रूपों सम (तालाघात के साथ संगीत क्रिया का आरंभ), अतीत (सम के उपरांत प्रारंभ होने वाली संगीत क्रिया), अनागत (सम आघात से पूर्व आरंभ होने वाली क्रिया) ग्रहों, तिहाईयाँ और बाँट इत्यादि लय-विस्तार के उपकरणों का ज्ञान ध्रुपद गायक तथा विद्यार्थी को होना अनिवार्य है।

मध्य काल में ध्रुपद शैली की रचनाएँ क्रमशः 120 तालों में बद्ध होती थी अर्थात् उस समय 120 ताल प्रचार में थी जिनमें चौताल, आड़ा चौताल, सूलफाक, रूद्रताल, ब्रह्मताल, हंसताल, राजमार्तण्ड, चंपकताल, कमालमण्डिका, चन्द्रकला, हयलीला, सरस्वती, लक्ष्मी, गणेश, शूल, मठ, झंपा इत्यादि मुख्य थीं। अधुना प्रचलित अधिकतर ध्रुपद रचनाएँ चौताल, सूलताल में निबद्ध होती हैं। अन्यान्य तालें आज अपेक्षित होकर लुप्त हो चुकी है। आधी तालों का प्रयोग ध्रुपद शैली में निषिद्ध हैं। जिन कुछ ध्रुपदों में झंपा (झंपताल) तेवरा, रूपक इत्यादि तालों का प्रयोग हैं भी तो उन्हें ध्रुपद न कहकर 'सादरा' कहा जाता है।

अतः आधुनिक प्रचलित विभिन्न गायन शैलियों में मध्यकालीन ध्रुवपद गायन की परम्परा अति प्राचीनतम कही जाती है। जहां तक शैली के विकास

का प्रश्न है तो 15वीं शताब्दी मानसिंह तोमर काल से लेकर मुहम्मद शाह रंगीले तक की शासनकाल अवधि ध्रुवपद विकास का स्वर्णिम युग रहा। संगीत को लोकाधार के साथ - साथ राजाश्रय प्राप्त होना इस काल की मुख्य विशेषता थी। साहित्य स्वर एवं ताल की दृष्टि से ध्रुवपद शब्द की संरचना में प्रथम शब्द "ध्रुव" शैली के स्वर तथा पद की अखंडता का साक्षी है। गुणीजनों के कथानुसार जिस प्रकार स्वरों में सर्वप्रथम षड्ज खज एवं रागों में सर्वप्रथम भैरव राग की साधना अनिवार्य है। उसी प्रकार सभी गायन शैलियों या गीत प्रकारों की साधना से पूर्व ध्रुवपद गायन साधना करना अनिवार्य है। वास्तव में खंडनाद को साधन बनाकर अखण्ड नाद की साधना ही मूलतः ध्रुवपद शैली की आस्था रही है। संक्षेप में ध्रुवपद शैली को सीढ़ी बनाकर परम लक्ष्य ब्रह्म में एकाकार हो जाना मात्र कलाकार का उद्देश्य रहता है। जिसका प्रमाण हमें ध्रुवपद शैली के आधारभूत तत्त्वों स्वर, ताल एवं काव्य के समन्वित रूप को देखने से मिलता है। जैसे- स्वर सौन्दर्य की दृष्टि से प्रत्येक स्वर के जितने भी संभावित रूपों की संरचना ध्रुवपद शैली में देखी गई है। अन्यत्र कहीं भी किसी गायन प्रकार में भी नहीं। ध्रुवपद शैली का काव्य मात्र छंदबद्ध अराधनापरक पदों तक सीमित न रहकर मानव जीवन के अन्य पक्षों का भी विवरण प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि भक्त गायनाचार्यों से लेकर दरबारी संगीतज्ञों एवं जनसाधारण में ध्रुवपद शैली सर्वाधिक सम्मानित हुई।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. शर्मा अनीता, प्राचीन सांगीतिक परम्पराएं एवं ध्रुवपद शैली : एक अध्ययन
2. गर्ग डॉ. लक्ष्मी नारायण निबंध संगीत
3. चौधरी डॉ. सुभद्रा, भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान
4. परांजपे डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास
5. पाठक पं. जगदीश नारायण, संगीत निबंध माला

हिन्दुस्तानी संगीत की वैज्ञानिकता और परम्परा

प्रिया पाण्डे

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में स्वरों के परस्पर संवाद तथा लय ताल के घेरे में बंधी हुई उनकी क्रमिक बढत ही संगीत को प्रभावशाली रुचिकर व सुन्दर बनाने में उत्तरदायी है। सांगीतिक संरचना या बन्दिश केवल उसका बाह्य आवरण होती है परन्तु स्वरों का लगाव तथा लयात्मकता ही आत्मा हैं। बंदिश तथा शब्द तो भाव अभिव्यक्ति का साधन मात्र हैं। संगीत को वैज्ञानिक परम्परा से जोड़ते हुए प्लेटो ने कहा- समस्त विज्ञानों का मूलाधार संगीत है तथा इसका निर्माण विश्व की वर्तमान विसंवादी प्रवृत्तियों के निराकरणार्थ ईश्वर के द्वारा हुआ है। उत्तर और दक्षिण दोनों ही क्षेत्रों में संगीत-सम्बन्धी कुछ धारणाएं समान रुप से प्रचलित हैं। उनमें से एक तो यह है कि दक्षिणात्य संगीत पद्धति हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है दूसरी यह कि दक्षिणात्य पद्धति शुद्ध भरत परम्परा का अनुकरण करती और उत्तरी पद्धति पर विदेशियों का प्रभाव पडने से यह प्राचीन हिन्दू परम्परा से अलग हो गई है ये दोनों धारणाएं हिन्दुस्तानी संगीत के तत्व और इसकी विशेषताओं के अज्ञान के कारण पैदा हुई है।

दक्षिणात्य पद्धति को वैज्ञानिक कहने के कारण उसका नियमित वर्गीकरण भी माना जा सकता है इसमें कोई संन्देह नही किया जा सकता कि हिन्दुस्तानी संगीत का वर्गीकरण उतना नियमित नहीं है किन्तु केवल वर्गीकरण का नियमित होना ही वैज्ञानिकता का आधार नहीं माना जा सकता है। व्यंकटमखी का मेलकर्ता निरुपण गणितीय नियम पर आधारित है पर संगीत की विवेचना में गणित की उतनी महत्व नही है जितनी ध्वनि विज्ञान के नियमों के आधा पर ही आंकी जा सकती है। ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से देखने पर दक्षिणात्य पद्धति की वैज्ञानिकता दोष अधिक दिखाई पडते है। हिन्दुस्तानी संगीत क नाद तथा परम्परा भी इसकी वैज्ञानिक प्रकृति क स्पष्ट रुप से दर्शाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण संगीत सृष्टि ध्वनि आन्दोलनों का परिणाम है। वस्तुओं की टक्कर अथवा रगड़ पास की वायु क आन्दोलित करती है तथा जलतरंग की भांति व वायु में कम्पन्न उत्पन्न करती हैं।

Sound is due to the vibrations of source, such as a musical instrumen which are transmitted through the air an which set the ear drum in vibration the same rate.

इस प्रकार नाद की तारता तीव्रता तथा क विस्तार इत्यादि मिलकर ध्वनि को वैज्ञानिक बना हैं वह ध्वनि चाहे किसी मनुष्य की हो अथवा वा की। मनुष्य की श्रवण शक्ति 9 सप्तक की होती है परन्तु कोई भी व्यक्ति पूर्णतः 9 सप्तकों में न गायन कर सकता है और न ही उतना नाद उत्प कर सकता है इसी प्रकार सृष्टि में सभी जीवों श्रवण-शक्ति उनकी वाक् शक्ति से अधिक हो है। कोई भी व्यक्ति तीन सप्तकों से अधिक नहीं सकता। प्रायः व्यक्ति दो सप्तको में गायन करते है इस प्रकार विभिन्न सप्तकों में स्वरों की आन्दोल संख्या भी भिन्न-भिन्न होती है हिन्दुस्तानी संगी की वैज्ञानिकता में इसकी सबसे अधिक सिद्धता

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

स्वरों की आन्दोलन संख्या इस प्रकार मानी गयी है--

सा	रे	ग	म	प	ध	नि	सां
240	270	300	320	360	400	450	480

इससे स्वयंभू स्वरों की उत्पत्ति भी होती है समानत्व के अनुसार रुद्रवीणा के तारों से निम्न प्रकार स्वयंभू स्वर उत्पन्न होते है।

1-चौथे तार के दूसरे पर्दे पर पंचम स्वर (स्वयंभू) है।

2- दूसरे तार की दूसरी सारिका पर शुद्ध निषाद (स्वयंभू) है।

3- तीसरे तार के चौथे पर्दे पर च्युत षडज, षड्ज निषाद (स्वयंभू) है।

4- पहले तार के पाँचवे पर्दे पर कौशिक निषाद की प्राप्ति होती (स्वयंभू) है।

इस प्रकार सोमनाथ ने 12 या 8 श्रुतियों के अन्तर पर स्वयंभू स्वर माने है। श्रुतियों पर विचार प्रकट करते हुए शारंगदेव ने कहा - "श्रुतियां ही स्वरों के रुप में परिणाम को प्राप्त होती है जैसे दही, दूध का परिणाम है श्रुतियां षड्ज आदि स्वरों को अभिव्यक्त (प्रकाशित) करती हैं, जैसे दीपक घर को प्रकाशित करता है।"

संगीत रत्नाकर में स्वर की व्याख्या करते हुए कहा गया है--

श्रुत्यन्तर भावीयः स्निग्धोश्ष्नु रयात्मकः
स्वतो रन्जयति श्रोतृचिन्तं स स्वर उच्यते।।

सामान्य रुप से कह सकते हैं- समस्त प्रकृति वस्तु जगत् गतिमान है। चेतना, गीत का प्रतीक है और चेतना शून्य वस्तु कल्पनातीत है जो वस्तु हमें स्थिर प्रतीत होती है वह भी वैज्ञानिकों की दृष्टि में गतिमान है। वैज्ञानिक पहाड़ों में भी कम्पन्न तथा पत्थर के छोटे-छोटे टुकडों में धड़कन का अनुभव करते हैं। कम्पन्न न केवल हमारे हृदय में है अपितु शरीर का कण-कण सदैव कम्पित होता रहता है। मृत्यु के पश्चात भी गति बन्द नही होती यद्यपि उपरी धडकन रुक जाती है किन्तु शव में परिवर्तन होता रहता है जो गति का ही कारण है नियमित गति ही लय है, जो प्रबल भावना की भी जननी है संगीत का दूसरा तत्व है स्वर समूह अथवा धुन विशेष जिसमें प्रकृति का व्यापक स्वरुप परिलक्षित होता है। वृक्षों के पत्तो के सूख जाने के बाद पत्ते लहलहा उठते हैं, पर्वतो में हिमपात होता है और फिर ग्रीष्म में जल बनकर बह जाता है, समुद्र भाव मेघ का रुप धारण कर धरती को सींचती है और फिर नदी के रुप में बहते हुए पुनः समुद्र में जा मिलती है। उक्त सभी वस्तुओं में हम जिस प्रकार एक का उतार और दूसरे का चढाव देखते है अनुभव करते हैं उसी प्रकार स्वरों में भी आरोहन अवरोहन के रुप में यह क्रम सदा विद्यमान रहता है जो विशेष आनन्द तथा नवीनता का सेतु है।

हिन्दुस्तानी तथा दक्षिणात्य संगीत को एक साथ देखने पर हिन्दुस्तानी को उपर्युक्त सभी आधारों पर अधिक वैज्ञानिक माना जा सकता है कुछ अन्य उदाहरण भी है- दक्षिणात्य शुद्ध ग्राम कनकांगी किसी भी वैज्ञानिक पद्धति में स्वीकृत नहीं है। यह अर्धस्वरक ग्राम है जिसमें दो अर्धस्वर लगातार आते है। दो लगातार अर्धस्वर की इस अव्यवहारिकता के कारण ही पुरन्दरदास ने मायामालव गौड़ अर्थात राग भैरव को शुद्ध ग्राम मानने का प्रस्ताव किया था पर यह भी अर्धस्वर ग्राम ही है शुद्ध वैज्ञानिक ग्राम बिलावल मेल माना जाता है जिसके प्रत्येक स्वर स्वरित के सम्बन्ध से इष्ट हैं। बिलावल मेल सरल इष्ट और स्वाभाविक है। दक्षिण में भी शंकराभरण का ही व्यवहार में अधिक प्रचार है। यह इस बात की मूल स्वीकृति है कि दक्षिणात्य शुद्ध ग्राम कनकांगी अवैज्ञानिक है। स्वरों की इष्टता और संवाद की व्याख्या और इनकी औचित्य सिद्धि में होत्महोज ने महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का निरुपण किया है। इन्ही सिद्धान्तों के कारण ही संगीत ध्वनि विज्ञान की परिधि के भीतर आ गया है हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में बिलावल थाट को शुद्ध माने जाने से इसकी वैज्ञानिकता प्रमाणित होती है इसमें इष्टता और संवाद को बडी प्रधानता दी गई है। पंचम प्लुत मध्यम-प्लुत और गान्धार-प्लुत का व्यवहार बहुत अधिक होता है और इसमें इष्ट अन्तरालों का ही प्रयोग होता है। भातखण्डे के दशमेल-निरुपण से

यह नया भ्रम फैल गया है दक्षिणात्य-रागों का क्षेत्र बड़ा ही विशाल है और हिन्दुस्तानी रागों का क्षेत्र 10 मेलों तक ही संकुचित है मुख्य बात यह है कि विज्ञान और कला की प्रेरणा से हिन्दुस्तानी संगीत में पूरी तरह 10 मेलों के अतिरिक्त और किसी भी मेल को स्थान नहीं है। विज्ञान के सर्व स्वीकृत नियमों और कला के सर्वप्रिय सौष्ठव का परित्याग करके संगीत के क्षेत्र को विस्तृत करने की आकांक्षा हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में नहीं पाई जाती। संवाद भांति ही अर्धस्वर अंतरालवाले दो स्वरों का परस्पर-विवाद भी हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में माना जाता है जो वैज्ञानिक नियम से बँधा है। विज्ञान कला के विधि निषेधों की केवल भौतिक दशा पर प्रकाश डालता है जैसे सा-प संगीत तो प्रिय होती है और जिन दो स्वरों का अंतराल अर्धस्वर 16:15 होता है उनकी संगति सबसे अधिक अप्रिय होती है। होल्महोज ने बताया है कि जिन दो स्वरों की संगति अप्रिय होती है उनमे डोल की मात्रा अधिक होती है। लगभग 33 डोल प्रति सेकेण्ड सबसे अधिक अप्रियता पैदा करती है पर दो स्वरों का डोल क्यों अप्रिय होता है यह विज्ञान का तथ्य नही, यह तो कला की अनुभूति है। हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति मे विदेशी अंश बहुत अल्प दीख पड़ता है या तो भरत का अवरोही स्वर प्रबन्ध, मूर्छना प्रबन्ध मध्यम की प्रधानता न्यास स्वर के गुणधर्म आदि अनेक बातें प्राचीन यूनानी पद्धति से इतनी मिलती है कि भरत पद्धति पर यूनानी प्रभाव का पड़ना आसानी से अस्वीकार नही किया जा सकता। कुछ विद्धानो का मत है कि भरतकृत नाट्यशास्त्र पर यूनानी नाट्यशास्त्र का बहुत कुछ प्रभाव है।

इन सारी विवेचनाओं तथा उदाहरणों का उद्देश्य यह नही कि दक्षिणात्य पद्धति को हिन्दुस्तानी पद्धति की अपेक्षा हीन सिद्ध किया जाय। दक्षिणात्य पद्धति का प्रसंग इसलिए उठाया गया क्योंकि बहुधा इसकी तुलना हिन्दुस्तानी पद्धति से की जाती है अतः इन विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तानी पद्धति में वैज्ञानिकता का अंश निहित है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि कोई भी संगीत सच्चे अर्थ में पूर्ण रुप से वैज्ञानिक नही हो सकता, इसके कलात्मक तथ्यों और अनुभूतियों की भौतिक भित्ति वैज्ञानिक नियमों से समक्षा जा सके, इस अर्थ में हिन्दुस्तानी-संगीत पद्धति की वैज्ञानिकता पूरी तरह सिद्ध होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

1. शर्मा डॉ. स्वतंत्र, भारतीय संगीत वैज्ञानिक विश्लेषण-
2. वृहस्पति कैलाश चन्द्र देव, भरत का संगीत सिद्धान्त
3. टॉक तेज सिंह, संगीत विज्ञान एवं गणित
4. द्विवेदी डॉ. रमाकान्त, संगीत स्वरित
5. सिंह प्रो. ललित किशोर, ध्वनि और संगीत

परम्परागत लोकनाट्य

प्रीती सोनी

स्वान्तः सुखाय एवं जनसाधारण के मनोरंजन हेतु जिस शैली का सर्वप्रथम उदगम हुआ वह नाट्य ही था। परन्तु वर्तमान समय में भारतवर्ष में जो नाट्य विधा प्रचलित है उसे लोकनाट्य की संज्ञा देना अनुचित प्रतीत होता है। इसका प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि उनका साहित्य और उनकी प्रस्तुतीकरण-पद्धतियाँ लोककला की अपेक्षा कहीं अधिक सुसज्जित, परिमार्जित एवं अलंकृत हैं। रंगमंच एवं नाटक की सुन्दरता उसके परम्परागत होने में ही है। यद्यपि अनेक प्रकार के नाट्य प्रदर्शन जनसाधारण के मध्य आदिकाल से और संस्कृत नाट्य के गौरव काल में भी होते रहे थे, तथापि रासलीला, अंकिया नाट, जात्रा, भागवत मेल सांग इत्यादि वर्तमान लोकप्रिय शैलियों का उद्भव और विकास संस्कृत नाट्य के ह्रास काल में एक ऐसी नृत्य-संगीत-संवाद और मिश्रित शैली से हुआ जिसका लक्षणकारों ने तो उल्लेख नहीं किया है किंतु जिसके लिए नाटककारों एवं अन्य लेखकों ने 'संगीतक' शब्द का व्यवहार किया है। संगीत एवं संगीतक में अन्तर है। संगीत अर्थात्-गायन, वादन एवं नृत्य। संगीतक में सहगान और सहवाद्य-वादन के अतिरिक्त नृत्य, गीत, संवाद ये सभी तत्व मिलते हैं और जब रंगशाला में प्रेक्षकों के सम्मुख इनका प्रदर्शन हो तभी उन्हें संगीतक कहा गया है। संगीत तो प्रेक्षागृह के अतिरिक्त भी प्रस्तुत होता था, किन्तु संगीतक के लिए रंगशाला में प्रदर्शन अनिवार्य था। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र को पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए तीन बातों पर जोर दिया है। प्रथम यह कि चूँकि शूद्र तथा वन्य जातियों के लोग वेद-पाठ से वंचित थे, इसलिए ऐसे वेद की आवश्यकता पड़ी जो सभी वर्गों की जनता के लिए उपादेय हो। दूसरी यह कि नाट्य में ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस का संग्रह किया गया। भरत की तीसरी स्थापना यह थी कि नाट्य सभी प्रकार की कलाओं, शिल्प तथा ज्ञान से संपन्न होने के कारण पंचम वेद कहलाने योग्य है। भरत के अनुसार-

गीतवाद्यानुनादो हि यत्र काकु स्वरः शुभः।
तस्मिन देशे विपाश्मानो मांगल्यच्च भविष्यति।

अर्थात् जब विशेष नादात्मक ध्वनियों के साथ वाद्यों सहित उपयुक्त स्वरों में स्तुति आदि पूर्वरंग में प्रस्तुत की जाती है तब उसके विशेष नाद से समस्त अशुभ लक्षण नष्ट होकर शुभ लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। सामान्य रूप से यदि देखा जाए तो जिस प्रकार शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत एवं लोक संगीत के अपनी विशेष विधा, परंपरा, नियम एवं सिद्धान्त हैं उसी प्रकार नाट्य संगीत की भी अपनी विशेष विधा, परंपरा, नियम एवं सिद्धान्त हैं।

परम्पराशील नाट्य में गान, भावाभिव्यक्ति का अत्यन्त सुगम साधन है, गद्य संवाद कार्य-व्यापार को आगे बढ़ाने का माध्यम तथा नृत्य अलंकरण द्वारा वातावरण का प्रेरक। इन तीनों तत्वों के यथोचित सम्मिश्रण से ही नाट्य की उद्भावना होती है। अभिनय में संगीत के समावेश होने का संकेत नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में मिलता है। ऐसा माना जाता है कि पाश्चात्य देशों में ड्रामा, बैले और ओपेरा-ये तीनों विभिन्न विधायें विगत तीन सौ वर्षों में विकसित हुई है। परन्तु भारतवर्ष में वर्तमान से कुछ वर्षों पहले तक इस तरह का विभक्तीकरण

शोध छात्र, संगीत एवं मंच कला संकाय, गायन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नहीं था। इस मिश्रित विधा के प्रचलन का पहला कारण तो यह है कि भारतवर्ष के जीवन-दर्शन सामंजस्य की प्रधानता एवं दूसरा है हमारे कला-सिद्धान्त में रस का सर्वसंग्रही उद्देश्य। किन्तु सिद्धान्त के अतिरिक्त यदि देखा जाए तो व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी कलाकारों एवं जन-मानस को गान, संवाद एवं नृत्य के सम्मिश्रण में सुविधा प्राप्त होती है।

इन नाट्यों की मुख्य बात यह थी कि उस युग में ये लिखित न होकर मौखिक होते थे। साँग, नौटंकी एवं जात्राएँ तो अब भी लिखी जाती हैं, परन्तु प्रायः नाटक का संपूर्ण रूप स्मृति पर अवलम्बित होता है। प्रायः मंदिर के नट नटी ज्ञानी होते हुए भी लिखने में असमर्थ होते थे अतएव उनके लिए संपूर्ण नाटक एवं गीतों को याद रखना आसान होता है। मौखिक पद्धति में सरलता यह होती है कि वे अवसर के अनुसार संवाद बदलते रहते हैं एवं प्रेक्षकों की बदलती अभिरूचि के अनुरूप गीतों की धुनें एवं छवियाँ भी बदली जा सकती हैं। इस प्रकार परम्परा के साथ-साथ उनकी ग्रहणशीलता भी बनी रहती है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इन नाटकों का मंचन प्रायः गाँवों में होता है जहाँ वर्तमान समय तक यातायात की सुविधा अत्यन्त सीमित थीं। अतः नाट्य प्रदर्शन प्रायः रात्रि में होता था एवं रात भर चलता था ताकि दर्शकों को मध्य रात्रि में लौटकर अपने घर ना जाना पड़े क्योंकि ये रंगप्रदर्शन गाँवों से दूर होता था। ऐसा विशेषतः स्त्रियों के लिए किया गया था। घर के सारे कामकाज करने के पश्चात् उनके मनोरंजन के लिए ऐसे आयोजन भोजन के उपरान्त ही आयोजित किये जाते थे।

जिस मध्ययुग में ये नाट्य शैलियाँ पुष्पित एवं पल्लवित हुईं वह युग सामंतों एवं राजा-महाराजाओं का था। राजा एवं महाराजा अपने धन एवं शक्तियों की बदौलत अपने तथा अपने वर्ग के लोगों के मनोरंजन के लिए बड़े से बड़े नर्तकों एवं गायकों को रख सकते थे। इस प्रकार ये परम्परा केवल राजाओं-महाराजाओं तक ही सीमित रह गई। एवं जिस परिप्रेक्ष्य में प्राचीन नृत्य एवं संगीत का जनसैलाब उमड़ता था, उसकी छोटी-छोटी टुकड़ियों को अन्तःपुर के नाजुक नुपूरों में परिवर्तित कर दिया गया। परिणामस्वरूप जनसाधारण को संगीत एवं नृत्य का रसास्वादन करने के लिए परम्पराशील नाट्य का सहारा लेना पड़ा। अतः कथानक के बिना भी संगीत एवं नृत्य का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगा।

नाट्य में वाद्यों का प्रयोगः-

पूर्वरंग में यदि किसी भी स्थान में नाट्य प्रदर्शन होता था तो दर्शकों को एकत्रित करने के लिए नगाड़े एवं मृदंग का प्रयोग किया जाता था। नगाड़ा अथवा मृदंग का बजना इस बात का संकेत होता था कि अमुक स्थान में अमुक नाट्य होने वाला है इसके अतिरिक्त नगाड़ा बजाने वाला गाकर भी इस सूचना को कहता था एवं उसका निश्चित समय एवं स्थान बतलाता था। नगाड़े, मृदंग एवं ढोलक किसी भी नाट्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे क्योंकि उस युग में दृश्य परिवर्तन हेतु पर्दे नहीं होते थे अतः इसका संकेत नगाड़ों इत्यादि से ही दिया जाता था। इस प्रकार एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग एवं एक संवाद से दूसरे संवाद की ओर मुड़ने के लिए भी नगाड़े, ढोलक एवं पुष्कर इत्यादि वाद्यों का भी प्रयोग किया जाता था।

नाट्य में सूत्रधार एवं विदूषक की भूमिकाः-

नाट्य में किसी भी अभिनेता को एक से अधिक भूमिकायें करनी पड़ती हैं। इन सबमें सबसे ज्यादा पारंगत सूत्रधार को होना पड़ता है। किसी भी नाट्य में सूत्रधार वह व्यक्ति होता है जो नाटक का आरंभ होते ही उसका सारांश गाकर सुनाता है। लगभग सभी परम्परागत नाट्यों में सूत्रधार सिर्फ प्रारंभ में ही नहीं वरन् संपूर्ण नाटक में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता ही है। संस्कृत नाटकों में सूत्रधार प्रस्तावक का काम करता है एवं आंचलिक नाट्य में प्रस्तावक एवं वाचक दोनों का काम करता है। सूत्रधार नाटक की रूपरेखा बताने के साथ-साथ नाट्य के मार्मिक स्थलों को भी बताता है। तमिलनाडु के वीथिनाटकम् में सूत्रधार को कट्टियंगरन कहते हैं और वह प्रत्येक प्रधान पात्र का प्रारंभ में परिचय देता है। यह परिचय मुद्राओं एवं संकेतों द्वारा गीत का अर्थ स्पष्ट करते हुए दिया जाता है। भवई में सूत्रधार को नायक कहते हैं। उत्तर प्रदेश के नकल

और भगत नामक प्रदर्शन में सूत्रधार को खलीफा नाम से संबोधित किया जाता है।

सूत्रधार की ही भाँति किसी भी नाट्य का दूसरा महत्वपूर्ण पात्र विदूषक होता है। उसकी भूमिका एक हँसोड़ अभिनेता की होती है। उसकी वेशभूषा अन्य पात्रों से बिल्कुल भिन्न होती है। वह बढ़ा हुआ पेट, लंबी मूछें, हाथ में छड़ी-ऐसे रूप में मंच पर आता है। रासलीला में विदूषक मनसुखा कहा जाता है। ग्वालबालों में वह हँसोड़ होता है एवं प्रायः गोपियाँ उसे ही छेड़ती हैं।

नाट्य में गानः-

प्राचीन काल से ही मार्गी और देशी संगीत का भेद रहा है परंतु परंपराशील नाट्य-विधाओं में दोनों संगीतों का प्रयोग हमेशा से होता रहा है। निःसंदेह आंचलिक नाट्यों में लोक धुनों को ही प्राथमिकता दी जाती है परंतु काफी वर्षों से आंचलिक नाट्यों में शास्त्रीय रागों का प्रयोग किया जा रहा है, जो कि सुनने में अत्यंत मधुर एवं कर्णप्रिय होता है। ऐसा ही प्रयोग वाद्यों के संबंध में भी किया जाता है। सितार एवं संतूर जैसे वाद्यों का प्रयोग खुशी के अवसरों पर झाला इत्यादि बजाने के लिए किया जाता है एवं वेदनात्मक परिस्थितियों के लिए सारंगी जैसे वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। सितार एक ऐसा वाद्य है जो दुख एवं हर्ष दोनों ही परिस्थितियों में प्रयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार युद्ध जैसे दृश्यों के लिए मृदंग एवं नगाड़े इत्यादि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि एक नाट्य में गीत एवं वाद्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

नाट्य संगीत में रागों की भूमिकाः-

इन नाट्य शैलियों में जो संगीत प्रयुक्त होता था, वह रागानुबद्ध होता था। अक्सर कर्णाटक और दक्षिण भारत में प्रचलित कुछ रागों की प्रतिध्वनि उत्तर बिहार और असम के नाट्य रागों में मिलती है। देशी और मार्गी दोनों प्रकार के राग क्षेत्रीय नाटकों में प्रायः पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ राग दरबारी का प्रयोग प्रौढ़, गंभीर एवं राजसी व्यक्तित्व के लिए, राग जौनपुरी कोमल करूणायुक्त कामिनी के रूप में, राग तोड़ी को प्रगल्भा नायिका की वेदना की मूर्ति के रूप में, भारवा को अपने वेदना पान करने वाले पुरूष के रूप में, मालकौंश को शान्त गंभीर सौम्यरूप में, हिंडोल को आवेश युक्त उग्र रूप में, खमाज को मुग्धा-कामातुर श्रोवन मदमाती नखरीली नारी (संयोग श्रृंगार) या विरहिणी (वियाग श्रृंगार) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है एवं इसी प्रकार अनेक रागों को उनकी प्रकृति के अनुसार नाट्य में सुंदरता लाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

परम्परागत नाट्य का समाज पर प्रभावः-

परम्परागत नाट्य का सर्वप्रथम उद्देश्य, सर्वसाधारण का मनोरंजन और नीति तथा धर्म का पालन करना। लगभग सभी नाट्यों में जनसाधारण को जीवन की नीतिशिक्षा मिलती है। नाट्य के प्रत्येक प्रसंग में कोई न कोई नीतिबद्ध बात अवश्य होती है जिससे प्रेक्षको का ध्यान खींचा जा सके। यद्यपि पौराणिक नाट्यों में अनेक अवतारी पुरूषों का चरित्र प्रदर्शित होता है, तथापि अनेक प्रादेशिक नाट्य साधारण कुल में पैदा हुए नायकों को प्रस्तुत करते हैं। राजस्थान के ख्याल में तेजा जी का चरित्र इसकी पुष्टि करता है। परम्परागत नाट्यों में सामाजिक जीवन पर छींटाकशी की जाती है। समाज में व्याप्त कुरीतियों को ध्यान में रखकर नाटक का प्रदर्शन किया जाता है एवं अपने प्रदर्शन के माध्यम से नागरिकों को जागरूक कर उन कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया जाता है। उदाहरणार्थ हिमाचल के करियाला एवं कश्मीर के भाँड़ जश्न में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। प्रेक्षकों और नाट्य के बीच में यह तारतम्य नागरिक जीवन के लिए अनूठी वस्तु है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि नाट्य समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर कर एवं नागरिकों में उसके प्रति जागरूकता फैलाने का संप्रेषण का अनोखा माध्यम है।

संदर्भः

1. भारद्वाज डॉ. लक्ष्मीनारायण, रंगमंचः लोकधर्मी-नाट्यधर्मी, 1992
2 माथुर जगदीशचन्द्र परम्पराशील नाट्य, 2006
3 द्विवेदी डॉ. पारसनाथ नाट्यशास्त्रम्

नाद, बिन्दु और कला के अर्थ में संगीत के दार्शनिक पहलू

रागिनी सिंह

संगीत को प्रयोग और शास्त्र की दृष्टि से देखने की परम्परा भारत की प्राचीन परम्परा है। प्रयोग पक्ष को शास्त्र की ओर से देखना और शास्त्र को प्रयोगधर्मी बनाना ही संगीत के प्रमुख पहलू है। किन्तु हमें यह जानना चाहिए कि भारतीय संगीत अपनी दार्शनिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। इसका दार्शनिक पहलू ही इसका आधार है।

दार्शनिक पहलू को समझ लेने से हम इसके मनोवैज्ञानिक पहलू को समझ सकते हैं और इसके जरिए हम अपनी सौन्दर्य दृष्टि को भी गहन बना सकते हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार दर्शक, दृश्य और दर्शन जहाँ एक हो जाते हैं वह दर्शन कहलाता है जो अंग्रेजी के फिलोजाँफी शब्द से भिन्न है। इस दर्शन की दृष्टि से ही भारतीय ऋषियों ने सृष्टि के उद्भव और रचना को जाना है। उनसे ही हमें पता चलता है कि सृष्टि की रचना ध्वनि से हुई है जिसे महानाद की संज्ञा दी गई है, नाद को हमारे यहाँ ईश्वर कहा गया है। संगीत में इसे अनाहत और आहत नाद के रूप में बाटा गया है यहाँ हम संगीत से पहले इसके प्रथम दार्शनिक पहलू नाद के संदर्भ में समझने की कोशिश कर रहे हैं जिसे अनाहत नाद कहा गया। इस नाद को अनाहत इसलिए कहा गया क्योंकि भारतीय दर्शन में ईश्वर असीम अपरिमेय और औपुरुषेय है। उसकी कोई सीमा नहीं है इसलिए वह आहत नहीं होता, लेकिन वह सुनने में कैसा है और दिखने में कैसा है, यह जानने की इच्छा ईश्वर को हुई, यानी ईश्वर ने यह जानना चाहा कि वह कैसा और उसकी शक्ति कितनी विराट है। इसके लिए उसने अपने आपको व्यक्त करना चाहा व्यक्त करने के लिए जो जगह थी वह था शून्य, जहाँ सृष्टि होनी थी। कहते हैं कि उस शून्य में अदृश्य रूप से प्रकाश और ध्वनि को सहअस्तित्व था। इस शून्य में महानाद अपने को व्यक्त करने जा रहा था। अपने आपको व्यक्त करने के लिए उसने अपनी शक्ति को घनीभूत किया तो वह शक्ति एक बिन्दु के रूप में बदल गई, उसी बिन्दु से महानाद ने अपने को व्यक्त किया और इस महाशून्य में सृष्टि की रचना हो गई। इस सृष्टि में प्रकाश भी था और ध्वनि भी। अनादि समय से इस प्रकार प्रकाश और ध्वनि की सहअस्तित्व अनन्त काल के लिए जारी है। अपनी शक्ति यानी बिन्दु के जरिये नाद तो व्यक्त हो चुका था लेकिन यह अनाहत और असीम था।

ऋषि मुनियों ने अपने आहत और असीम देह के पार जाकर इस अनहद नाद को सुना और फिर बाद में उन्होंने इसे लोकधर्म बनाना चाहा ताकि सभी इस अमृत का स्वाद ले सके और अनहद नाद से अपने हृदय और आत्मा को पवित्र कर सके।

इसके लिए उन्होंने आहत नाद की व्यवस्था दी। जिस प्रकार चाँद का रूप हमेशा पूर्ण होता है किन्तु हमें उसकी कलाएँ क्रमशः घटती और बढ़ती रहती है। उसी प्रकार नाद हमारे पास कई कलाओं में पहुँचता है। कलाओं के घटने बढ़ने से चन्द्रमा का पूर्णवृत्त का आकार कभी नहीं बदलता, उसी प्रकार

शोध छात्र, एम.फिल., संगीत शास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आहत नाद की कला हमारे पास आने के बावजूद अनाहत नाद का पूर्ण सत्य कभी प्रभावित नहीं होता। इसी आहत नाद यानी ऐसी ध्वनि को जब हम सांगीतिक बनाते है तो वही संगीत अपनी पूर्णता से हमें यानी मनुष्य को ब्रह्मानन्द सहोदर की अवस्था तक ले जाता है। जहाँ सीमित का असीमित में लय हो सकता है और अपनी कलाओं के साथ आहत नाद भी अनाहत नाद में रूपान्तरित हो जाता है।

इस प्रकार यह संगीत का सौन्दर्य है कि जो अनाहत नाद सीमित मनुष्य, पशु और पक्षी से दूर होता है वो अपनी शक्ति या बिन्दु के जरिये अपनी विभिन्न कलाओं के साथ हम तक पहुँचता है और हमें वही साधना की शक्ति देता है ताकि हम इस सांगीतिक ध्वनि या आहत नाद के जरिए अनाहत के आनन्द को महसूस कर सके। इस तरह भारतीय संगीत का दार्शनिक पहलू यही है कि वह स्वयं सीमित ध्वनि की तरह हमारे पास आता है और हमें असीमित गीत बनाकर आनन्द से भर देता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मुसल गाँवकर विमला, ताल रूप विधान।
2. परांजपे शरतचन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास
3. ठाकुर जयदेव जी, भारतीय संगीत का इतिहास।

भारतीय संगीत का अन्य देशों से सम्बन्ध

निधि श्रीवास्तव

भारतवर्ष एक ऐसा प्राचीन देश है जहाँ साहित्य, काव्य, शिल्प और संगीत का सर्वप्रथम विकास हुआ। संसार के संगीत को देखने से विदित होता है कि भारत ने साहित्य, कला, दर्शन और संगीत को अनेक देशों में फैलाया। यूनानियो से बहुत पहले ही भारत ने सातों स्वर और तीनों सप्तकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। भारत के ऋषि सातों स्वरों का गायन करते थे। सप्तक के सातों स्वरों की खोज अन्य देशों से हजारों वर्ष पूर्व भारत में हुई और संगीत की प्रथम शिक्षा के लिए विश्व भारत का ऋणी है। भारतीय संगीत का ऋतुओं से सम्बन्ध, राग-रागिनियों के चित्र, संगीत द्वारा रोग निवारण, रागों का भावनाओं से सम्बन्ध तालों में पाया जाने वाला उत्कृष्ट रूप, ताल के बजने वाले पाटाक्षर (बोल) जो आज भी संसार में कहीं नहीं है, नृत्य के विभिन्न प्रकार आदि जैसी बातें भारतीय संगीत की प्राचीनता को बताती है।

यद्यपि अपने देश भारत में उत्थान-पतन की अनेक घटनाएँ घटित हुई किन्तु भारतीय संगीत पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। प्लीनी, स्ट्रैबो, मैगस्थनीज और हेरोडोटस जैसे-अनेक प्रारम्भिक इतिहासकारों ने भारत का सम्बन्ध अन्य देशों से बताया है। इनमें सब से पहला इण्डस की सभ्यता के समय, लगभग 4000-3000 ई. पू. का है। दूसरा 1500-300 ई. पू. का है जिसके विषय में ऊपर दिए गए इतिहासकारों ने खूब लिखा है। और तीसरा काल अशोक के समय का है जबकि बौद्ध भिक्षुओं द्वारा धार्मिक प्रचार किया गया था। अशोक के राज्यकाल (260 ई.पू.) में भारत के अनेक प्रचारक साइबेरिया से लंका तक, चीन से मिश्र तक और साइरिया, फिलस्तीन, एलैक्जैण्ड्रिया जैसे स्थानों में खूब गए।

इतिहासकार मिहिर चन्द का कहना है कि 'प्राचीन काल में सिंध और पंजाब के लोग बोलन दर्रे द्वारा मैसोपोटामियाँ से भी व्यापार करते थे'। प्रबोध चन्द्र बागची के अनुसार भारतीय सभ्यता इण्डोचीन, चम्पा, श्याम (थाईलैण्ड), जावा और बाली द्वीप में भी पहुँची। वाणिज्य और धर्म प्रचार के माध्यम से संगीत का अनेक देशों में प्रसार हुआ। यह स्वाभाविक बात है कि अनेक देशों के सम्पर्क में आने के कारण भारतीय संगीत का उन देशों से संगीत से मिश्रण हुआ और परिणाम में उनके देश का संगीत और भारतीय संगीत दोनों बदल गए। इस प्रकार ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में जो भारतीय संगीत विदेशों में गया था, वही ईसा के बाद की दसवीं शताब्दी, अपने मूल रूप को खोकर, 'हिन्दुस्तानी संगीत' के रूप में भारत में लौटकर वापस आ गया।

स्वामी प्रज्ञानन्द का कहना है कि सम्राट एलैक्जैण्डर के भारत अभियान के बाद भारत और यूनान में सम्पर्क बढ़ा। अशोक शासन काल में बौद्ध सन्यासियों ने अनेक देशों में भगवान बुद्ध की वाणी का प्रचार किया और उसके साथ भारत की सांस्कृतिक भावधारा का भी विस्तार किया। अतः इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि एक समय भारत का भी सभी देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध था। प्राचीन काल में वाणिज्य और धर्म-प्रचार के माध्यम से ही भारतीय संगीत अन्य देशों में पहुँचा।

स्वामी अभेदानन्द ने कहा है कि मिश्र के संगीत के समान यूनानी संगीत का मूल भी सम्भवतः

शोध छात्र, संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हिन्दु संगीत में निहित हैं और कम से कम संगीम की विश्व जननी पद्धति में इसकी अधिकांश परम्परा की नींव हिन्दुओं ने रखी थी। आतिया बेगम फैजी रहमान ने अपनी पुस्तक 'दी म्यूजिक ऑफ इण्डिया' में कहा है कि 'हिन्दू संगीत जो सभी प्रकार के संगीत का मूल है, पहले फारस में, फिर यूनान में और बाद में अरब पहुँचा। वहाँ से अपना भण्डार बढ़ाकर यह पुनः भारत में आया।

पहली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक यूनानी नाविक भारत आया। उसकी डायरी 'पोरिप्लस मुरिस एरिथ्रेई' में कहा गया है कि 'मेरे समय भारत ने, मिश्र से मूसकी का अयात किया। केडिस के इयोडोक्सिस ने भारत को जहाज से गाने वाली लड़कियाँ (मौसिक पैडिस कदरिया) भेजीं और भूगोलवेत्ता स्ट्रबो अपने पाठकों को सलाह देते हैं कि भारतीय राजाओं का समर्थन प्राप्त करने के लिए उन्हें संगीत वाद्य अथवा गाने वाली सुन्दर लड़कियाँ भेंट की जाएँ। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में यूनानियों के आगमन से भारतीय संगीत प्रभावित हुआ। किन्तु भारत ने संगीत कला और संस्कृति का अपना प्रकाश ईसवी सन् से हजारों वर्ष पूर्व अन्य देशों में भी फैला दिया था।

चीनी काल-निर्णय-विद्या (क्रॉनोलॉजी) से स्पष्ट है कि चीनी सम्राटों ने भारतीय गायक एवं वादकों के एक दल को 581 ई. में आमन्त्रित किया था। सम्राट अशोक ने अपने शासन काल (273 ई.पू. से 232 ई.पू.) में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए बौद्ध भिक्षुकों को चीन, मंगोलिया, हिन्द चीन, कंबोज, सिंहल आदि एशिया के देशों में भेजा। इन भिक्षुओं के माध्यम से इन देशों के साथ संगीत का आदान-प्रदान आरम्भ हो गया था।

चीन के सम्राट संगीत प्रेमी होने के नाते वे अन्य देशों से संगीतज्ञों को बुलाया करते थे। सन् 581 ई. में एक राजकीय उत्सव में भारतवर्ष, कुचार, बुखारा, समरकंद और काशगर से संगीतज्ञों को चीन में बुलाया गया था। चीन में संगीत का प्रचार मध्य एशिया से हुआ। कुचार में एक ब्राह्मण (उपाध्याय) परिवार रहता था। इस परिवार के लोग संगीत प्रेमी थे। इस परिवार को सन् 550 ई. में चीन में बुलाया गया था। काओत्सु (581-95 ई.) ने चीन में भारतीय संगीत के प्रचार को रोकने के लिए एक आज्ञानुसार इसे अवैध घोषित कर दिया था, किन्तु फिर भी लोग इसे बड़ी रूचि से सीखते थे।

सन् 578 ई. में सुजीव नामक भारतीय-संगीतज्ञ को चीन में बुलाया गया था। तंग लेखों के अनुसार भारतीय लोग काली टोपी तथा सिल्क का वस्त्र पहनते थे। बोधि नामक भारतीय संगीतज्ञ चीन होता हुआ जापान गया था। वहाँ उसने बैरो (भैरव) राग का प्रचार किया। चीन के लेखक भी भारत के नाम से परिचित थे।

चीन के संगीत में कम से कम बीस कूची धुनों का पाया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि कूची कलाकार छठी शताब्दी के मध्य में चीन गए थे।

बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ भारतीय संगीत का प्रचार भी चीन में हुआ। प्राचीन चीनी ग्रन्थों में भारतीय 'कुतुप' के अन्तर्गत अनेक वाद्यों का होना पाया जाता है जिसमें तेईस तन्त्री वीणा का स्पष्ट उल्लेख है। तुन-हुआंग नामक गुफाओं में भारतीय वाद्यों का चित्रांकन चौथी शताब्दी में हुआ। एलेन डेन्येल्यु ने 'इन्ट्रोडक्शन टू म्यूजिकल स्केल' में लिखा है कि तुंबरू वीणा अथवा तानपुरा का चीनी रूपान्तर 'तानपुला' है। प्रो. तानयुहशान ने 'इण्टरचेंज बिटवीन इण्डिया एण्ड चायना' में लिखा है कि प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से भारत ने जिन विद्याओं की दिशा और प्रसार में चीन को सहायता पहुँचाई उनमें संगीत का विशेष स्थान है। यह भी ठीक है कि संगीत के क्षेत्र में चीन का अपना दृष्टिकोण एवं विशेषताएँ भी विद्यमान रही है।

कार्ट-सच का कहना है कि जापानी संगीत पाँचवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ तब कोरियाई दरबारी संगीत अपनाया गया था। छठीं शताब्दी में जापान, बौद्ध धर्म और चीन के संगीत से कोरिया के माध्यम से परिचित हुआ। चीन ने जापान को भारत का संगीत व नृत्य दिया जिसे बुगकु के रूप में जापानी रूप दिया गया। 'बुगकु' में 'बु' का अर्थ है नृत्य और 'गकु' का अर्थ है संगीत। इस प्रकार बुगकु का अर्थ 'नृत्य-संगीत' है। बुगकु संगीत के प्रसंग में यह

बात स्वीकार की गई है कि भारतीय और प्राचीन 'हाँग' संगीत पद्धतियों के मिश्रण से इसकी सृष्टि हुई है। यह संगीत जापानी उत्सवों के समय होता था।

आधुनिक युग में भी भारतीय संगीत की लोकप्रियता ने संसार को चकित कर रखा है। इसके प्रमाण में सितार वादक पं. रविशंकर जी का उदाहरण प्रस्तुत है। उन्होंने भारतीय संगीत की धारा को स्विटजरलैण्ड, अमरीका, इंगलैण्ड, फ्रांस, हॉलैण्ड, जर्मनी, रूस, जापान, आदि अनेक देशों में पहुँचा दिया। यही नहीं बल्कि विदेशों में भारतीय संगीत के विद्यालय भी अनेक खुल गये। साथ ही सितार के अतिरिक्त सरोद, वीणा, संतूर, वंशी, पखावज, तबला, गायन तथा भारतीय नृत्यों के कार्यक्रम भी लगभग समस्त एशिया और यूरोप के देशों में बड़ी रूचि से देखे जाने लगे। अनेक कलाकार अनेक देशों में अस्थायी संगीत शिक्षक (विजीटिंग प्रोफेसर) के रूप में संगीत सिखाने का काम कर चुके हैं और कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त आज (1993 ई. में) परम पूज्य महर्षि श्री महेश जी योगी ने भारतीय संस्कृति और संगीत के प्रचार के लिए, समस्त भारत में ही नहीं वरन अनेक विदेशों में भी एक हजार से अधिक ऐसे विद्यालय खोल रहे हैं, जिनमें भारतीय संगीत की शिक्षा दी जाती है।

संदर्भ

शर्मा, मृत्युंजय, संगीत मैनुअल
शरण, पं. भगवत, संगीत निबन्ध मंजरी।

भारतीय चलचित्र में संगीत की शुरुआत

सुनील कुमार गुप्ता

मनुष्य को अपना जीवन-यापन करने के लिए तीन प्रमुख साधनों की आवश्यकता होती है। खाने के लिए भोजन, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए मकान। इसको पाने के लिए मनुष्य मेहनत-मजदूरी करता है। किन्तु इसके अलावा भी मनुष्य की अपनी कुछ आवश्यकताएँ या इच्छाएँ होती हैं जिनकी पूर्ति यह अपनी आय व्यय को ध्यान में रखते हुए करता है। दिन-रात मेहनत तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते-करते इन्सान थक जाता है तथा एक समय या एक क्षण ऐसा आता है जब उसे ऐसे साधन की तलाश रहती है जो उसे मानसिक शांति प्रदान करे। वहाँ उसे केवल सुख व आनन्द मिले। ऐसे में आवश्यकता होती है- मनोरंजन (Entertainment) या मन बहलाव (Recreation) की और इसका सर्वश्रेष्ठ विकल्प मनुष्य को संगीत के रूप में मिला। संगीत के कई रूप हैं- शास्त्रीय संगीत, राग-गायन उपशास्त्रीय संगीत (ठुमरी, टप्पा, दादरा) लोकसंगीत, सुगम संगीत, चलचित्र या चित्रपट संगीत इत्यादि।

हम यहाँ बात करते हैं फिल्म (चित्रपट) तथा उसके संगीत की।

फिल्म यदि आईना है तो संगीत उसका प्रतिबिंब। जब से फिल्मों में संगीत का प्रवेश (1931 ई. से) हुआ तब से लेकर आज तक सभी धर्मों के, प्रान्तों के, व्यवसायों के, वर्गों के, रिश्तों के, स्वभावों के लोगों को प्रभावित करता आ रहा है। इसका प्रभाव इतना ज्यादा है कि कहीं न कहीं, किसी भी स्थान पर व्यक्ति को चाहे-अनचाहे सुनना ही पड़ता है।

फिल्म संगीत को भारतीय समाज का मनोरंजन करते हुए 100 साल हो गए हैं। हालांकि सिनेमा का इतिहास 100 वर्ष से भी अधिक पुराना है। तब मूक फिल्मों का निर्माण किया जाता था। किन्तु बोलती फिल्मों के साथ हीं फिल्मों में संगीत का सफर शुरू होता है।

फिल्मों में संगीत के आगमन की कहानी भी बहुत ज्ञानप्रद एवं दिलचस्प है। इसकी शुरूआत होती है 28 सितम्बर सन् 1895 ई. से।

उस समय पेरिस में लूमियर बन्धुओं द्वारा बनाई गई पाँच फिल्मों का एक पैकेज दिखाया गया, जो कुल मिलाकर 20 मिनट की थी। उसे देखने के लिए हॉल में 100 सीटों की व्यवस्था थी। इसमें दूध ा पीता हुआ शिशु, स्टेशन की तरफ आती हुई रेलगाड़ी, फैक्ट्री के गेट से बाहर आते मजदूर, बगीचे में पानी देता हुआ माली आदि दृश्य दिखाए गए। ये सभी फिल्में एक-एक शॉट की होती थी। यानि कैमरे का शटर एक बार खुला और फिर उसके बाद बंद होने तक फिल्म पर जो अंकित हुआ उतना ही।

लुमियर ने वास्तविक घटनाओं का हू-ब-हू फिल्मांकन किया था।

उसके ठीक 6 महीने बाद 7 जुलाई 1896 ई. को बम्बई के वॉटसन होटल में इन फिल्मों को दिखाया गया। ये फिल्में मूक थी किन्तु पार्श्व में वाद्य यंत्रों को बजाया जाता था जिससे कि वातावरण को स्पष्ट किया जा सके। विदेशों में इस प्रकार की तकनीकी विज्ञान के अद्‌भुत चमत्कार को देखकर भारतवासी भी अपनी संस्कृति और सभ्यता के उजागर

शोध छात्र गायन विभाग संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

करने तथा जन-जन तक फैलाने के लिए लालायित हो उठे। और अंततः दादा साहब फाल्के (धुंडी राज गोविंद फाल्के) पहली भारतीय मूक फिल्म बनाने में सफल रहे। जिसे सन् 1913 ई. में मुम्बई के कोरोरेशन थियेटर में प्रदर्शित किया गया।, और फिल्म थी' "राजा - हरिश्चन्द्र"। इसलिए दादा साहेब फाल्के जी को "भारतीय फिल्म का जनक" खिताब दिया गया।

फिल्म "राजा-हरिश्चन्द्र"के कुछ दृश्य

1913 ई. से 1934 ई. तक कुल 1279 मूक फिल्में बनी, जिनमें से अधिकांशतः नष्ट हो गई तथा कुछ अभी भी सुरक्षित हैं, जो पूना के फिल्म "आरकाई" में सुरक्षित हैं। इन मूक फिल्मों में फिल्म परदे पर चलती थी और एक व्यक्ति फिल्मों के अनुसार उसकी व्याख्या करता था जिसे कमेंट्रेटर कहा जाता था। तदोपरान्त धीरे-धीरे बोलती फिल्मों का आगमन हुआ और मूक फिल्मों का निर्माण बंद होने लगा।

क्योंकि पश्चिम के देश चलचित्र के क्षेत्र में लगातार उन्नति कर रहे थे। भारत भी पीछे नही रहा। 14 मार्च 1931 ई. में पहली बोलती फिल्म 'आलम-आरा' मुम्बई के "मैजेस्टिक" सिनेमा घर में प्रदर्शित हुई, जिसके निर्देशक थे" अर्देशिर ईरानी"। लोगों ने इस आश्चर्य को देखा और अवाक् रह गए। चलचित्र की दुनिया की ये दूसरी उपलब्धि थी।

"आलम-आरा" फारसी थियेटर प्रोडक्शन की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इस फिल्म का "संगलाप" संस्कृत मिश्रित हिन्दी और फारसी भाषा मिश्रित उर्दू था। "आलम-आरा" का अर्थ था - "पृथ्वी का उजाला"। इस फिल्म में मुख्य भूमिकाएं निभाई थी- पृथ्वीराज कपूर, डब्ल्यू एम-खान, मास्टर, विट्ठल, जुबैदा और जिल्लोबाई ने।

इस फिल्म में 7 गाने थे, जिसके संगीत निर्देशक थे- "फिरोज शाह मिस्त्री" तथा बी. ईरानी। इस तरह चलचित्रों में संगीत का प्रवेश हो गया, शरीर के साथ परदे पर ताल, लय, स्वर, छन्द भी गतिशील हो गई।

फिल्म आलम-आरा के गीतः-

1. दे दे खुदा के नाम पे -वज़ीर मुहम्मद खाँ
2. बदला दिलावायेगा या रब - जुबैदा
3. रूठा है आसमान गुम हो गया महताब - जिल्लूबाई
4. तेरी कातिल निगाहों ने मेरा
5. फिल्म "आलम-आरा" का दृश्य
   दे दिल को आराम-ए-साकी गुलफाम
6. भर-भर के जाम पिला जा सागर को चलाने वाला
7. दरस बिना मेरे हैं तरसे नैना प्यारे

पहली सवाक् फिल्म 'आलम आरा' में सात गीत थे, जिन्हें संगीत से सजाया था फ़िरोजशाह मिस्त्री और बहराम ईरानी ने। पहला गीत था दे दे खुदा के नाम पर प्यारे और पहले गायक थे वज़ीर मोहम्मद खान। इसके बाद आई दादा साबह फाल्के की 'सेतुबंधन' और फिर आई 'घर की लक्ष्मी'। इसके बाद तो बोलती फिल्मों का दौर ही आ गया। इसी दौर की एक फ़िल्म थी-'शीरीं फ़रहाद', जिसमें उर्दू रंगमंच के बहुत मक़बूल सितारों जहां आरा कज्जन और मास्टर निसार ने काम किया था। इन दोनों कलाकारों की एक और फ़िल्म थी-'इन्द्रसभा' जिसमें दो-चार नहीं, पूरे 71 गाने थे। अस्सी साल बीत गए हैं लेकिन 'इन्द्रसभा' का रिकार्ड अब तक नहीं टूटा है।

1941 ई. तक भारत में एक हज़ार से अधिक फिल्में बन गई थीं। दर्शकों का मन लुभाने के लिए प्रत्येक फ़िल्म में सात-आठ से लेकर बारह-तेरह गाने होते थे। रंगमंच के सुप्रसिद्ध नाटकों पर आधारित फ़िल्मों में तो बीस से लेकर पच्चीस तक गाने होते थे। जे.एफ. मादन की 'राजा हरिश्चंद्र' में 27 गाने थे। उन्हीं की एक और फ़िल्म 'चतरा बकावली' में पचास और 'इन्दर सभा' में सत्तर गाने थे। ये तीनों फ़िल्में 1932 में बनी थीं-यानी पहली सवाक फ़िल्म 'आलम आरा' बनने के एक वर्ष बाद। स्पष्ट है कि दर्शकों को सिनेमा हॉल में खींच लाने के लिए फ़िल्मों में अच्छी तर्ज़ों पर बनाए गए गीतों की बहुत आवश्यकता थी-ऐसे गीतों की, जो उनकी ज़बान पर आसानी से चढ़ जाएं।

आलम आरा के प्रदर्शन के बाद दूसरी बोलती फिल्म बनी-''नूरजहाँ'', जो कि हिन्दी और अंग्रेजी दो भाषाओं की बनाई गयी थी। इसके निर्माता एवं निर्देशक भी आर्देशिर ईरानी ही थे। इन्होंने ही सबसे पहले रंगीन फिल्मों की शुरूआत की। पहली रंगीन फिल्म थी-'विषकन्या'। उसके बाद 1957 ई. को बहुत ही ख्याति प्राप्त फिल्म 'मदर इन्डिया' का निर्माण किया। यह फिल्म 32 सप्ताह तक चली और काफी प्रसिद्धी पायी।

हॉलाकि मूक फिल्मों के शुरूआत मे ही संगीत का समावेश होने लगा था। उस समय पार्श्व-गायन नहीं था। अभिनेता या अभिनेत्री को ही गायक या गायिका होना पड़ता था। कोई साउण्डप्रूफ स्टूडियो उपलब्ध नहीं होने के कारण ध्वनि को सीधे रिकार्ड किया जाता था। शूटिंग अधिकांशतः रात के समय में होती थी। क्योकि दिन मे काफी शोर गुल रहता था। माइक्रोफोन अभिनेता या अभिनेत्री के आस पास छिपा दिया जाता था।

उस समय पार्श्व संगीत केवल मात्र वाद्ययंत्रों की सहायता से दिया जाता था। जिसमें अधिकतर वाद्य पाश्चात्य शैली के होते थे। परदे पर फिल्म चलती थी, और उसके सामने गोलाई में नीचे बैठकर वाद्य यंत्रो को (आरकेस्ट्रा) बजाया जाता था जिसे पी.आई.टी. कहा जाता था। शुरूआती दौर में पाश्चात्य वाद्यों का प्रयोग किया जाता था, किन्तु धीरे-धीरे उनमें भारतीय वाद्यों का प्रयोग शुरू हो गया। उन दिनो वाद्य यंत्रों का प्रयोग फिल्म के वातावरण को स्पष्ट करने के लिए किया जाता था, जैसे- घोड़े को दौड़ाते हुए दिखाने के लिए तबले का प्रयोग, करूण दृश्य को स्पष्ट करने के लिए वायलिन का प्रयोग, रोमांटिक दृश्य को स्पष्ट करने के लिए एक साथ कई सितार की झंकार का प्रयोग किया जाता था। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में परिवर्तन हुआ पहली बोलती फिल्म ''आलम-आरा'' के प्रदर्शन साथ गायन कला की शुरूआत हुई।

उस दौर में कलाकारों को अभिनय के साथ-साथ गायन में भी निपुण होना जरूरी था। इन दोनों विधाओं में सबसे पहले और सबसे बड़े स्टार का दर्जा हासिल किया-कुंदनलाल सहगल ने। 'चंडीदास, देवदास, तानसेन, भक्त सूरदास, शाहजहां और स्ट्रीट सिंगर जैसी फिल्मों में मुख्य भूमिका निभाते हुए उन्होंने जो कालजयी गीत गाए, उन्हें लोग आज तक भुला नहीं पाए हैं। पता नहीं, यह उनकी बड़ी-बड़ी दर्द भरी आंखों का असर था या जादुई आवाज़ का, कि हिंदुस्तान के तमाम शहरों-कस्बों के युवा उनकी तरह दुःख के अब दिन बीतत नाहीं की शिकायत करने लगे और तमाम युवतियां उनके जैसे किसी सलोने साजन से भी जा, राजकुमारी से जा सुनने का इंतज़ार करने लगीं।

आलम आरा के बाद फिल्म 'अयोध्या का राजा' (1932 ई. में) प्रदर्शित हुई इसके निर्देशक वी. शान्ताराम एवं संगीत निर्देशक श्री गोविन्द राव टेम्बे थे। यह पहली फिल्म थी, जिसमें गीतों के चित्रीकरण की एक विशेष शैली के दर्शन हुए। उसके बाद 1933 ई. में 'राजरानी मीरा' फिल्म बनीं, जिसमें मीरा के भजनों का सुन्दर संकलन किया गया। संगीत निर्देशक थे श्री रामचन्द्र बोड़ाल। 1934 ई. में फिल्म 'चंडीदास' बनी। इसके भी संगीत निर्देशक थे श्री रामचन्द्र बोड़ाल। इस फिल्म में उस समय के प्रसिद्ध गायक एवं अभिनेता श्री के.एल. सहगल ने अपनी कला के कौशल से अपूर्व योगदान दिया। इस चलचित्र के दो गीत-''तड़पत बीते रैन तथा 'प्रेमनगर में बनाऊँगी घर मैं, तज के सब संसार'' बहुत प्रसिद्ध हुए।

1934 ई. में ही बनी श्री प्रफुल्ल चन्द्र बरूआ की फिल्म देवदास। संगीतकार श्री तिमिर बरन की यह फिल्म (चलचित्र) संगीत के इतिहास में ''मील का पत्थर'' साबित हुई। इस फिल्म के नायक श्री के.एल. सहगल द्वारा गाए तीन गीत-

1. बालम आये बसो मेरे मन में।
2. दुःख के दिन अब बीतत नाहीं।
3. पिया बिन नाही आवत चैन

बहुत ही मर्मस्पर्शी एवं कर्णप्रिय थे। जो आज भी यदा-कदा सुनाई पड़ जाते हैं।

फिल्मों में पहले से रिकार्ड किए गानों का प्रयोग सबसे पहले 1935 ई. में किया गया। न्यू थियेटर्स के आर.सी. बोराल ने फिल्म 'धूप-छांव' के लिए पारूल घोष, सुप्रभा सरकार और हरिमती की

आवाज़ में एक समूह गीत रिकार्ड किया-मैं खुश होना चाहूं जिसे शूटिंग के समय प्ले बैक किया गया और इस तरह अभिनय करने वालों को अनिवार्य गायन से निजात मिली। अब वे अपना पूरा ध्यान अभिनय पर केन्द्रित कर सकते थे और उनकी जगह कोई और सुरताल की बारीकियों से निपट सकता था।

पार्श्व गायन से फिल्म संगीत में बहुत बड़ा बदलाव आया। अब तक फिल्मों में काम करने वालों के लिए गाना जानना अनिवार्य होता था। ज़ाहिर है, ऐसे लोग या तो संगीत के किसी-न-किसी घराने के संबंध रखते थे, या किसी उस्ताद से सीख कर आए होते थे, दोनों ही परिस्थितियों में वे आसानी से अपनी परंपरा के विरूद्ध जाने या उसके साथ किसी तरह का समझौता करने के लिए तैयार नहीं होते थे। इसलिए उस दौर के गाने भी पुरानी शास्त्रीय बंदिशों या फिर लोक धुनों पर आधारित होते थे। उसमें ज्यादा फेरबदल की गुंजाइश नहीं होती थी और न ही गाने वाले इसके लिए तैयार होते थे। अभिनय करते हुए कैमरे के सामने गाना वैसे भी कठिन काम था, इसलिए गीत के बोल और धुनें भरसक आसान रखी जाती थीं। पार्श्व गायन के साथ गीत और संगीत, दोनों ही क्षेत्रों में नए प्रयोगों की राह खुल गई और धीरे-धीरे पाश्चात्य तकनीक से प्रयोग से पार्श्व-गायन, तथा बैकग्राउन्ड संगीत आदि फिल्मों में प्रयुक्त होने लगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गुप्ता कु. सोमा दास, आधुनिक समाज को संगीतोन्मुख करने से चलचित्र-संगीत का योगदान
2. आजकल (अक्टूबर 2012) (सिनेमा के सौ वर्ष)
3. दैनिक जागरण (रविवार, साप्ताहिक विशेषांक) (हिंदी सिनेमा के सौ वर्ष)

संगीत एवं व्यवसाय का समन्वय तथा उसके सम्भावित कार्य क्षेत्र

नेहा श्रीवास्तव

संगीत को आमतौर पर मनोरंजन, मानसिक शांति, भक्ति, आत्मिक शांति के रूप में प्रयोग किया जाता है। हमारा समृद्धशाली संगीत अति प्राचीन काल से हमसे जुड़ा हुआ है। प्राचीन समय में प्रायः इसे भक्ति स्वरूप में अधिक प्रयुक्त किया जाता था। विद्वानों ने संगीत को मुक्ति का मार्ग भी कहा है, इसे ईश्वर एवं मोक्ष प्राप्ति का अमूल्य साधन माना जाता था।

यदि संगीत एवं व्यवसाय के समन्वय की बात की जाये तो संगीत को चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से जोड़ा जाता है जो सामाजिक व्यवस्था का ही एक स्वरूप है। इनका मानव जीवन से विशेष सम्बन्ध है। इन पुरुषार्थों को संगीत की पृष्ठभूमि पर रखकर अध्ययन किया गया। इस सम्बन्ध को विद्वानों ने इस प्रकार स्पष्ट किया है- जब मनुष्य अर्चना, भक्ति, पूजनादिके द्वारा ईश्वर की आराधना में लीन हो जाता है, उस समय वह धर्म का पालन करता है। जब वह संगीत के माध्यम से धनोपार्जन कर आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने का प्रयास करता है तो उस समय वह अर्थ के माध्यम से दायित्वों की पूर्ति करता है, इसके पश्चात् जब मनुष्य अपनी संगीत सम्बन्धी कामनाओं या इच्छाओं को आत्मसात करने में सफल होता है, तब वह काम पुरुषार्थ को भी आत्मसात कर लेता है। उपरोक्त तीनों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ व काम) की पूर्ति के पश्चात् मनुष्य अपने मूल की खोज में निकल पड़ता है, वह स्वयं को सामाजिक बन्धनों से मुक्त कर पुनः ईश्वर को प्राप्त करने के ध्येय से निरन्तर प्रयासरत रहता है और अन्त में कृपा पात्र हो मोक्ष की प्राप्ति कर चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रक्रिया में मनुष्य, संगीत दोनों सम्बन्ध की घनिष्टता स्पष्ट समझ आ जाती है।

मनुष्य और संगीत का सम्बन्ध प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक रहा है किन्तु समय-समय पर होने वाले वर्तमान ने इसे आज संगीत व्यवसाय का नाम दे दिया है। जिस प्रकार अन्य विषयों से जुड़े लोग अपने-अपने अनुसार जीविका प्राप्त करने के लिए व्यवसाय करते हैं उसी प्रकार संगीत विषय से जुड़े लोग अपना जीवन-यापन करने के लिए संगीत को व्यावसायिक रूप देकर संगीत से जीविकोपार्जन करते हैं।

आधुनिक तकनीकी युग से पूर्व लगभग 18वीं से 19वीं शताब्दी में संगीत को विषय के रूप में विद्यालयों में तो स्थान मिलना शुरू हो गया था, किन्तु छात्र केवल सहायक विषय के रूप में ही संगीत को चुनते थे। वे भविष्य निर्माण को ध्यान में रखते हुए संगीत को मुख्य विषय के रूप में चुनने से कतराते थे, क्योंकि उस समय में भी संगीत के इतने व्यापक क्षेत्र नहीं थे, जिससे विद्यार्थी अपने उज्जवल भविष्य को साकार रूप में देख पाते, किन्तु 19वीं सदी के अन्तिम दौर से शुरू हुए संगीत के कई अभियानों से विद्यार्थियों की सोच में परिवर्तन आया है। आधुनिक तकनीकी युग में अब संगीत को भी ठोस विषय के रूप में लिया जा सकता है। संगीत के कई व्यापक क्षेत्र है जिनको जानकर, समझकर

संगीत शास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विद्यार्थी अपने विशिष्ट भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। बदलते दौर में संगीत ने जीविकोपार्जन के कई क्षेत्रों को नई दिशा प्रदान की है, जिसमें विद्यार्थियों को अपनी आवश्यकताओं और अपनी रूचियों को दो अलग-अलग ढंग से पूरा करने के बजाय एक साथ संजोकर पूरा करने के विभिन्न अवसर प्रदान किये हैं किन्तु पहले विद्यार्थियों को मूल व्यवसाय पर अधिक ध्यान रखते हुए संगीत को मात्र रूचि या मनोरंजन के साधन के रूप में ही लेकर चलाना पड़ता था। संगीत को उस समय साध्य के रूप में नहीं देखा जाता था। संगीत को केवल साधना मात्र बनाये रखना उचित नहीं है, क्योंकि बिना संगीत की साधना किये, बिना साध्य के रूप में अपनाये हम इसके साधनों का लाभ नहीं उठा सकते **"जिस प्रकार अधूरे ज्ञान की लौ व्यक्ति को ज्ञानी नहीं बना सकती, उसी प्रकार साध्य की प्राप्ति किये बिना संगीत साधन नहीं बन सकता"** अतः संगीत के मूल रूप यानि संगीत के शास्त्रीय पक्ष का ज्ञान ही विद्यार्थियों को सफलता के पथ पर अग्रसित कर सकता है।

आधुनिक समय में संगीत ने व्यवसाय के रूप में कई क्षेत्रों में व्यापक रूप से उपलब्धि पाई है। इसके बावजूद अभी भी विद्यार्थियों को सही दिशा का ज्ञान न होने के कारण भटकना पड़ता है। यदि देखा जाये तो कई ऐसे क्षेत्र अभी भी अछूते हैं जिनसे विद्यार्थी लाभ उठा सकते हैं।

संगीत के व्यापक क्षेत्रों का यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। जिससे विद्यार्थियों को उचित लाभ मिलने की सम्भावना की जा रही है। यदि संगीत के विद्यार्थियों को प्रयोगात्मक और शास्त्र दोनों पक्षों का ज्ञान हो तो स्वरोजगार द्वारा जीविकोपार्जन के कई क्षेत्रों में अवसर प्राप्त हो सकते हैं। जो निम्नलिखित है-

1. कलाकार- यदि संगीत के प्रायोगिक पक्ष का ज्ञान विद्यार्थियों को गूढ़ रूप से है, और वह उसकी बारीकियों को अच्छी तरह से पहचानता है तो कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित होकर अपना जीवन यापन करने में सक्षम हो सकता है।

2. विविध विद्यालय एवं विश्वविद्यालय में शिक्षण कार्य

शिक्षण का कार्य प्राचीन समय से ही प्रचलित है, किन्तु समय के बदलाव के साथ-साथ शिक्षक कार्य में भी कई स्तरों का विभाजन करना आवश्यक है। तभी छात्रों को उनकी योग्यतानुसार शिक्षा दी जा सकेगी। जिससे आज के विद्यार्थी कल के योग्य शिक्षक बन पाने में सक्षम हो पायेंगे।

3. वृन्द वादन या ऑरकेस्ट्रा

भारतीय शास्त्रीय संगीत में वृन्द वादन एवं वाद्य वृन्द के प्रमाण हमें प्राचीन गुफाओं और शिल्पों के चित्रों के आधार पर प्राप्त होते हैं। इसमें सीतावंगा की गुफाओं की एक कृति में 15 वादकों का एक समूह दिखाया गया है, जिसमें 2 पुरुष और 1 स्त्री नृत्य कर रहे है और बाकी 12 लोग वाद्य यन्त्रों को बजाने की मुद्रा में हैं। ऐसा ही एक चित्र अजन्ता की गुफा में भी है, जिसमें 1 स्त्री नृत्यरत है और वाद्ययन्त्रों पर भी स्त्रियाँ ही संगत कर रही हैं। आधुनिक युग में भी इसे व्यवसाय के तौर पर प्रयुक्त किया जा रहा, जिसमें सभी कलाकारों को गायन के साथ-साथ वादन की विभिन्न शैलियों का ज्ञान रखना चाहिए ताकि इसमें भी वह जीविकोपार्जन कर सकें।

4. संगीत रिकार्डिंग के तकनीकी एवं व्यवहारिक पक्ष के रूप में

आजकल संगीत की रिकार्डिंग का एक चलन सा बन गया है, जो कलाकारों को उच्च स्तर का बनाता है, किन्तु यदि रिकार्डिंग कैसे करनी है इसका ज्ञान न हो तो हमें इस क्षेत्र में जाने के अवसर प्राप्त नहीं हो सकते। रिकार्डिंग तकनीकी का ज्ञान सही प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त करके हम इसके व्यवहारिक पक्ष में भी दक्षता हासिल कर सकते हैं। मुम्बई इस तकनीकी प्रशिक्षण का मुख्य केन्द्र माना जाता है। जहाँ से प्रशिक्षण प्राप्त करके विद्यार्थी स्वयं का रिकार्डिंग स्टूडियो भी खोल सकते है और आजीविका प्राप्त कर सकते हैं।

5. फिल्मों में संगीत निर्देशन, नृत्य निर्देशन

फिल्मों में संगीत निर्देशन का कार्य फिल्मों में संगीत की शुरूआत के साथ से ही किया जाता रहा है। एक अच्छा संगीत निर्देशक या नृत्य निर्देशक बनने के लिए संगीत के हर पहलू को जानना आवश्यक है। नृत्य की विविध विधाओं का ज्ञान होना तथा उसे सहज रूप में कलाकारों से करवा लेना एक कला है, जिसमें जब तक आप स्वयं निपुण नहीं होंगे तब तक वह सम्भव नहीं है। संगीतकार को संगीत की बारीकियों का ज्ञान होना चाहिए ताकि वह सहज भाव से गायक के गले से जैसा चाहे वैसा गीत गवा सके। इस क्षेत्र में भी विद्यार्थी रूचि अनुसार जीविका प्राप्त कर सकते हैं।

6. रेडियो, आकाशवाणी प्रवक्ता

इस क्षेत्र में भी संगीत के विद्यार्थियों को जीविका के अच्छे साधन प्राप्त हो सकते हैं। आकाशवाणी एवं रेडियो में संगीत सम्बन्धी प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों जैसे-संगीत सरिता, रागमाला, शास्त्रीय रागों पर आधारित फिल्मी गीतों का कार्यक्रम, अनुरंजनी आदि कार्यक्रमों की सही प्रस्तुति तभी सम्भव है, जब इसे प्रस्तुत करने वाले प्रवक्ता को संगीत की अच्छी जानकारी प्राप्त हो। इस क्षेत्र में भी विद्यार्थियों को आजीविका प्राप्त हो सकती है।

7. वाद्य निर्माण एवं रख-रखाव के निर्देशक के रूप में

वाद्य निर्माण के लिए भी संगीत की जानकारी का होना आवश्यक है। किन्तु कुछ परम्पराओं के लोप के कारण इस विधा का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता। इस क्षेत्र में यदि पुराने वाद्य निर्माता प्रशिक्षण कार्य करते, तो इस क्षेत्र में वाद्य निर्माताओं की कमी की समस्या को पूरा किया जा सकता है। पुराने लोग या तो केवल अपनी पीढ़ी को ही यह विशिष्ट ज्ञान देते हैं या तो उनको देते है जो उनके प्रिय शिष्य होते हैं। ऐसी अवस्था में आवश्यक समय में इन निर्माताओं की कमी बढ़ती जा रही है। यदि वाद्य निर्माण की प्रशिक्षण विधि को प्रचारित कर दिया जाये तो विद्यार्थियों को इस क्षेत्र में भी आजीविका प्राप्त करने का साधन उपलब्ध हो सकता है।

8. संगीत प्रबन्धन के क्षेत्र में

इस क्षेत्र के अन्तर्गत विद्यार्थियों को संगीत के शास्त्र पक्ष का ज्ञान रखते हुए, संगीत में चल रही गतिविधियों का प्रबन्धन करना होता है। किसी भी क्षेत्र में संगीत की सहायता से शान्ति एवं एकाग्रता उत्पन्न करना इस क्षेत्र के अन्तर्गत आता है जिसमें विद्यार्थियों का संज्ञान आवश्यक है।

9. संगीत आयोजक

सांगीतिक कार्यक्रमों के आयोजन के लिए आयोजकों को संगीत का ज्ञान होना अति आवश्यक है। यदि संगीत के कार्यक्रमों के आयोजन के लिए संगीत का ज्ञान आयोजक को अच्छी तरह से होता है तो आयोजन अच्छा होता है। विद्यार्थी संगीत आयोजक के रूप में भी कार्य कर सकते हैं।

10. शास्त्र ग्रन्थ का लेखन

विद्यार्थी शास्त्रों के अध्ययन में यदि रूचि रखते हैं तो वे ग्रन्थ लेखन के द्वारा भी आजीविका प्राप्त कर सकते हैं। संगीत के कई ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध है। यदि विद्यार्थी कई भाषाओं का ज्ञान रखते हैं, तो उनका अनुवाद करके प्रकाशन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे विषय जिन पर पुस्तकें लिखी जा सकती है, अध्ययन कर उन विषयों पर अपने विचारों से पुस्तक रचना कर सकते हैं और जीविका प्राप्त कर सकते हैं।

11. लेख एवं पत्रिका लेखन

विभिन्न विषयों पर लेख या शोध पत्र के द्वारा उन विषयों को सामने लाया जा सकता है, जिससे संगीत को और समृद्ध बनाया जा सके तथा आने वाली पीढ़ियों को नये आयाम एवं अवसर प्राप्त हो सकें। विद्यार्थी इस क्षेत्र में भी जीविका प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही प्रसिद्धि भी पा सकते हैं। इसे हम समालोचक तथा आलोचक की संज्ञा भी दे

सकते हैं। जिन विषयों के प्रति ऐसा प्रतीत होता है कि आप उनमें कुछ अच्छे विचार देकर उन्हें बेहतर बना सकते हैं तो ऐसे विषयों पर अपनी बात को पत्रिका लेखन के द्वारा समालोचक के तौर पर जीविका प्राप्त की जा सकती है।

12. संगीत पत्रकारिता

इसके दो आयाम देखे जा सकते हैं 1. प्रिन्ट मीडिया 2. इलेक्ट्रानिक मीडिया। यदि विद्यार्थी को पत्रकारिता एवं सम्प्रेषण का ज्ञान है, रूचि है, तो वह इसके माध्यम से संगीत को आम जनता के बीच बेहतर स्वरूप दे सकता है।

साथ ही कार्यक्रम की समीक्षा करते समय समाचार पत्रों में अनेक त्रुटियाँ होती है। ऐसी स्थिति को सुधारने के लिए जरूरी है कि पत्रकार के तौर पर ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाये जिन्हें संगति का ज्ञान हो, ताकि वे सही समीक्षा करने में सक्षम हो पाये और जन साधारण को सही और स्वस्थ जानकारी प्राप्त कराई जा सके।

13. गीत लेखन

यदि विद्यार्थी कविता, गीत, गजल आदि की रूचि रखता हो तो फिल्मों में और एलबमों में लेखन का कार्य करके भी आजीविका प्राप्त कर सकता है।

14. संगीत चिकित्सक

संगीत चिकित्सा का प्रचार आज के समय में अत्यधिक जोरों पर है। भारतीय संगीत तो प्राचीन समय से ही रागों, वाद्य यंत्रों की ध्वनियों आदि से रोगों का उपचार करता आ रहा है। किन्तु अब संगीत चिकित्सा का प्रचार-प्रसार विदेशों में भी खूब प्रचलित हो गया है। यदि संगीत चिकित्सा को सही स्वरूप प्रदान करने के लिए चिकित्सकों को संगीत का प्रशिक्षण दिया जाये और साथ ही आने वाली पीढ़ी को अभी से दोनों विषयों का चिकित्सकीय गुण सिखाया जाये तो इस क्षेत्र को संगीत के व्यवसाय के रूप में व्यापक बनाया जा सकता है।

उपसंहार

संगीत एक ऐसा विषय है जिसका सम्बन्ध अन्य सभी विषयों एवं क्षेत्रों से है। संगीत मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक के प्रत्येक क्षण में विद्यमान रहता है। हमारे आस-पास का वातावरण संगीत से भरा-पूरा है। संगीत के गणितीय तत्व को, उसके भौतिक एवं रासायनिक गुणों को हम तभी समझ सकते जब हम उसका सूक्ष्म अध्ययन करें।

किन्तु यदि संगीत के ज्ञान में थोड़ी-सी भी कमी या अपूर्णता रही तो इसे लक्ष्य के रूप में प्राप्त करना कठिन हो जायेगा। इसके लिए शिक्षक, प्रशिक्षक, शोध निर्देशक से लेकर छात्र, विद्यार्थी एवं शोधार्थी तक को अपने-अपने स्तर से ध्यान देना आवश्यक है, तभी संगीत को अन्य विषयों की भांति समृद्ध एवं बृहद बनाया जा सकेगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ठाकुर जयदेव भारतीय संगीत का इतिहास
2. श्रीधर परांजपे, भारतीय संगीत का इतिहास
3. शर्मा डॉ. मृत्युंजय और राम नरायण त्रिपाठी, संगीत मैनुअल

कथक नृत्य के साथ तबले की संगति

संदीप राव केवले*

मानव जब अन्तर आत्मा से प्रसन्न होता है तो उस प्रसन्नता में सर्वप्रथम नृत्य ही करता है फिर तालियाँ बजाता है और गाने लगता है, तात्पर्य यह कि किसी विशिष्ट समाज या प्रान्त के लोगों के हृदयगत भावों तथा विचारों का सही परिचय प्राप्त करने के लिए नृत्य से बढ़कर कोई साधन नहीं है।

लय एवं ताल के साथ अंग संचालन एवं पैरों का विशेष प्रयोग ''नृत्य'' की सामान्य परिभाषा है।

हमारे भारतीय समाज में नृत्य का बड़ा महत्त्व है विवाह समारोह, तथा अन्य खुशी के माहौल में नृत्य विशेषता रखता है। हमारे देश में कुल 26 प्रान्त हैं सभी प्रान्तों की अपनी अलग-अलग नृत्य शैलियाँ हैं इन सभी नृत्य शैलियों में सबसे प्रसिद्ध शास्त्रीय नृत्य शैली ''कथक'' है। जो सम्पूर्ण उत्तरभारत में विशेषकर उत्तर प्रदेश में प्रचलित है।

कथक का अर्थ : ''कथा कहे सो कथक कहावे''

अर्थात जो ''कथा'' (कहानी) को कहे, बाँचे या सुनाए वह ''कथक'' कहलाता है, यह उक्ति इस बात की ओर प्रभाविकता से इंगित करती है कि कथक के उद्‌भव व विकास में वाचक परम्परा का अमूल्य योगदान रहा है। मथुरा के आस-पास के क्षेत्रों में ग्वाल जाति के विभिन्न कृष्ण गाथाओं, महाभारत और श्रीमद्‌भागवत को गाने की एक सुदृढ़ परम्परा है। इसे ''कन्हैया'' गाना कहते हैं, तथा यह परम्परा देश के पाँच छः राज्यों में स्थापित हैं। अतीत में झाँके तो लव कुश को हम प्रथम कथकों के रूप में देख सकते हैं। जिन्होंने राम कथा रामायण का वाचन जगह-जगह किया।

लोक संस्कृति की यह कथा वाचन परम्परा शनैः-शनैः प्रचलित हुई और आज थोड़े से परिवर्तित रूप से यह कथक नृत्य के प्रस्तुतिकरण का अभिन्न अंग बन गई है।

कथक के विभिन्न घरानों में लखनऊ घराना, जयपुर घराना, बनारस घराना, रायगढ़ घराना प्रमुख हैं।

कथक नृत्य में राधा कृष्ण, शंकर पार्वती, गणेश जी, दुर्गा जी के वर्णन या कथा को संक्षिप्त रूप में कविता रूप देकर लय व ताल में प्रस्तुत किया जाता है। ततकार तथा चक्कर कथक के दो मूलभूत स्तम्भ है।

संगत : संगत शब्द का अर्थ संग चलने से है अर्थात् गायन हो वादन हो या नृत्य इन सभी में संगत का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है, हमारे संगीत की विभिन्न विधाओं के साथ अलग-अलग प्रकार की संगति अलग-अलग वाद्यों से की जाती है ये वाद्य अवनद्ध घन तथा सुषिर वाद्य हो सकते हैं। घन तथा अवनद्ध वाद्य संगीत की इन विधाओं को लय तथा ताल प्रदान करते हैं तथा उन्हें एक लयात्मक सीमा में बाँधकर रखते हैं। वर्तमान समय में तबला हमारे भारतीय संगीत की हर विधा के साथ बजने वाला महत्त्वपूर्ण अवनद्ध वाद्य है। कथक नृत्य के साथ तबला संगति की एक अलग पद्धति है कथक नृत्य के साथ तबला संगति करना संगीत की किसी भी अन्य विधा के साथ संगति करने से अलग है।

संगति का पौराणिक प्रमाण :

जब भगवान शंकर त्रिपुरासुर का वध करने के पश्चात् आनंद के अतिरेक में नृत्य करने लगे तथा उनका वह नृत्य लय में नहीं था, सम्पूर्ण पृथ्वी रसातल में जा रही थी तब जगत् सृष्टा ब्रह्मा जी ने

*शोध छात्र, एम.फिल., संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

त्रिपुरासुर के शरीरावशेष से मृदंग की रचना करके विजयी शंकर के साथ ताल देने के लिए उनके पुत्र श्री गणेश जी को ताल देने की प्रेरणा दी गणेश जी के मृदंग वादन से प्रभावित होकर भगवान शंकर ताल में नृत्य करने लगे।

यह कथा प्रमाणित करती है कि संगीत की हर विधा के साथ संगति का कितना महत्त्व है, तथा पौराणिक काल से यह प्रथा चली आ रही है, बिना लय ताल के हमारा संगीत हृदय विहीन होता है तथा विभिन्न अवनद्ध वाद्य लय ताल से हमारे संगीत को हृदय प्रदान करते हैं।

कथक नृत्य की संगति के लिए तबला-वादन विधि का विस्तार :

कथक नृत्य के साथ तबला संगति के संबंध में प्राचीन प्रस्तर शिल्पों में त्रिपुष्कर और द्विपुष्कर वादन का अंकन प्रमुख रूप से नृत्य के साथ ही मिलता है।

कैप्टेन एन.ऑगस्टरस के कथन के अनुसार तबला मूलतः नर्त्तकियों के नृत्यगान के साथ बजाया जाने वाला वाद्य था। स्व. डॉ. लालमणि मिश्रा ने भी तबले को मूलतः बेड़िनियों (लोक नर्त्तकियों) के साथ बजाया जाने वाला अवनद्ध वाद्य माना।

पं. पुरू दाधीच के अनुसार : नृत्यकार को ताल ज्ञान के साथ तबला बजाना सीखना भी आवश्यक है विशेषकर कथक नृत्यकार को।

कथक नृत्य की ध्वनि के विविध पदाघात, घुँघरू, स्वर वाद्य, ताल वाद्य एवं शब्द हैं।

कथक नृत्य की संगति के कारण तबला-वादन विधि का अतिरिक्त विस्तार हुआ है। कथक नृत्य में जब ततकार किया जाता है उस समय तबले पर उस ताल के ठेके द्वारा संगति किया जाता है। कथक (नटवरी नृत्य) खासकर तीनताल में किया जाता है। परन्तु समय काल परिवर्तन के साथ अलग-अलग तालों में भी नृत्य किया जाने लगा।

कथक नृत्य की संगति में तबले के लखनऊ घराने का सर्वश्रेष्ठ स्थान रहा इसी कारण लखनऊ घराने को "नचकरण बाज" की भी संज्ञा दी गयी है। इसके अलावा बनारस घराना भी लखनऊ घराने का ही एक अंग है वह भी कथक नृत्य की संगति में विशेष स्थान रखता है।

नृत्य के बोलों का तबले के बोलों के साथ विश्लेषण :

नृत्य के बोल - त्रम थेई। थेई त्रम
तबला के बोल - क्ड़ा धाऽ। धाऽ क्ड़ा
नृत्य के बोल - तत तत थेई थेई।
तबला के बोल - ते टे धाऽ धाऽ।
नृत्य के बोल - तिगधा दिगदिग
तबला के बोल - तिटकत गदिगन
नृत्य के बोल -ना दिग दिग ना दिग दिग दिग दिग
तबला के बोल-ना घिट घिट ना घिट घिट घिट घिट

तोड़ा :

तत् तत् थुं थुं। तिगधाऽ दिगदिग थेई ऽ।
× 2
तत् तत् थुं थुं। तिगधाऽ दिगदिग थेई ऽ।
0 3
तत् तत् थुं थुं। तिगधाऽ दिगदिग थेई ऽ।
× 2
तिगधाऽ दिगदिग थेई तिगधाऽ। दिगदिग थेई तिगधाऽ दिगदिग।
0 3

अनुवाद

तत् तत् दिं दिं। किटतक तिरकिट धा ऽ।
× 2
तत् तत् दिं दिं। किटतक तिरकिट धा ऽ।
0 3
तत् तत् दिं दिं। किटतक तिरकिट धा ऽ।
× 2
किटतक तिरकिट धा, किटतक। तिरकिट धा, किटतक तिरकिट।
0 3

ता थेई थेई तत। आ थेई थेई तत
ता थेई थेई तत। आ थेई थेई तत

इसकी संगत करते समय तबला वादक तीन ताल का ठेका बजाता है।

धा धिं धिं धा। धा धिं धिं धा। धा तिं तिं ता ता धिं धिं धा

कुशल तबला वादक ताल के वजन के अनुसार नर्तक के पदाघात एवं नृत्य के बोल उनके छंद के अनुसार तबले के बोल बना लेते हैं। तबले के टुक

के समान नृत्य में तोड़ा होता है। सलामी, आमद, चक्रदार, तिहाईया कथक की कुछ विशेषता है।

कथक नृत्य की संगति के लिए ध्यान देने योग्य बातें :

तबला वादक को कथक नर्तक के साथ बैठकर नृत्य की संगति का खूब अभ्यास करना चाहिए एवं नृत्य के बोलों को समझ लेना चाहिए। तबला वादक को विशेष कर नृत्य के बोलों के छन्द पकड़कर संगति का अभ्यास व प्रयास करना चाहिए। पं0 किशन महाराज को कथक नृत्य की संगति का अद्‌भुत अनुभव था। कथक नृत्य के साथ संगत करना तबला वादक एवं नर्तक के स्वभाव पर भी निर्भर करता है। घराने विशेष पर संगति का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। संगति व्यक्ति विशेष का अपना प्रभाव व अधिकार होता है। संगत का अर्थ जो भी मुख्य विधा है उसको अपनी संगति से उभारना।

बनारस घराने के कथक नृत्य में तबले के बोलों का अधिक प्रभाव है। पहले कथक नृत्य के साथ पखावज की अधिक संगति होती थी। वर्तमान समय में तबला की संगति अधिक होती है परन्तु दोनों वाद्यों का अपना अलग-अलग महत्त्व है। कथक नृत्य की संगति सबसे कठिन संगति है। इसके लिए तबला वादक का हाथ अधिक तैयार होना चाहिए। कथक नृत्य की संगति के लिए तबला वादक को नर्तक के पैरों तथा घुंघरूओं पर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए। कथक नृत्य के तीनों घरानों की अपनी अलग विशेषता है तो संगत कलाकार को उस विशेषता को ध्यान में रखते हुए संगत करनी पड़ती है। लखनऊ घराने में सौन्दर्य भाव पक्ष श्रृंगार पक्ष अधिक है इसलिए तबला सधे हुए अंदाज में नृत्य के मूल बोलों को ध्यान में रखते हुए लखनऊ घराने की नजाकत एवं भाव पक्ष के साथ "मीठी" संगत करनी चाहिए।

जयपुर घराने में बड़ी-बड़ी परने एवं चक्करों को वहाँ के नर्तक नाचते हैं तो तबला वादक को भी तैयारी के साथ वादन करना चाहिए।

बनारस घराने के कथक नर्तकों के साथ संगत करने के लिए मजबूत, जोरदार खुले बोलों के संगति की आवश्यकता होती है। बनारस घराने के तबला वादक छंद को देखते हुए "लपेट" की संगत करने में सक्षम होते हैं।

कथक नृत्य के साथ संगति करने के लिए अधिक अभ्यास एवं बोलों को समझकर तबला वादक को छंदात्मक संगति करनी चाहिए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कर्ण डॉ. नागेश्वरलाल, कथक नृत्य के साथ तबला संगति, कनिष्का पब्लिकेशर्स, डिस्ट्रब्यूटर्स, प्रथम संस्करण, 2001
2. श्रीवास्तव गिरीशचन्द्र, ताल परिचय, भाग 3, मार्च, 1999

साक्षात्कार

1. श्रीवास्तव प्रो. रंजना, गुरू कथक नृत्य, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
2. मिश्रा पं. भोला नाथ, गुरू तबला वादक एवं कथक नृत्य संगतकार।

थाट और उसका परिवर्तित स्वरूप

रोली पाण्डेय

भारतीय संगीत हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक है। यह सभ्यता और संस्कृति कहीं बाहर से नहीं आई वरन् उसकी अपनी संस्कृति है। यह स्वाभाविक है कि समयानुसार इस सभ्यता और संस्कृति में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हुए है, क्योंकि परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है। इस परिवर्तन ने न सिर्फ मानव सभ्यता को परिवर्तित किया बल्कि राजनीति, धर्म, आध्यात्म आदि क्षेत्र में भी विविध परिवर्तन एवं परिवर्धन हुए। इस श्रेणी में संगीत भी इससे अछूता न रह सका। अतः संगीत के क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन हुए। यह विदित है कि कोई भी पद्धति या परम्परा स्वतः ही प्रकट नहीं होती है। वह धीरे-धीरे विकास के क्रमिक सिद्धान्त से ही प्रकट हुई होती है तथा उससे पूर्व प्रचलित किसी एक पद्धति का आधार लेकर ही प्रकट होती है। ऐसे ही थाट पद्धति है जो कि मध्यकाल में प्रचलित मेल पद्धति का आधार लेकर ही प्रकट हुई है।

इस थाट राग पद्धति को हम वर्गीकरण, और प्राचीन मूर्च्छना का परिवर्तित रूप भी कह सकते हैं। प्राचीन काल में विद्वानों ने भारतीय संगीत में वर्णित विभिन्न रागों को एक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए इन्हें एक श्रेणी में रखा। जैसे सम्पूर्ण संसार में अनेक प्रकार की वस्तुएं हैं इन वस्तुओं को हम उनके गुण के आधार पर सजीव और निर्जीव दो भागों में बांटते है। अतः सजीव वस्तुओं को सजीव की श्रेणी में और निर्जीव वस्तुओं को निर्जीव की श्रेणी में रखते है। उसी प्रकार रागों का विभाजन भी उनके लक्षणों के आधार पर भिन्न-भिन्न थाटों में किया गया। प्राचीन काल से ही भारतीय संगीत में संगीत शास्त्रज्ञों ने थाट शब्द को भिन्न-भिन्न नामों यथा मेल, थाट, ठाठ, संस्थान, मुकाम से सम्बोधित किया है। ये समस्त शब्द व्यवहारात्मक दृष्टि से समान है। परन्तु इनमें नामों में कुछ भिन्नता पाई गई है। उपरोक्त समस्त शब्दों में थाट सबसे आधुनिक माना जाता है। थाट अथवा ठाठ शब्द का अर्थ ठठरी या ढांचा है। स्पष्टतः इस थाट पद्धति के विकास के साथ ठाठ और थाट में भी मतभेद उत्पन्न हो गये। यद्यपि इस ठाट शब्द को रोमन में थाट लिखते है। रोमन लिपि के कारण यही थाट बन गया इसमें कोई भिन्नता नहीं है। वास्तव में थाट और ठाट एक ही शब्द के दो रूप है।

उत्तर भारत में वीणा के स्वरों को विभिन्न प्रकार के रागों में मिलाने को थाट मिलाना कहते है तथा इस शब्द का प्रयोग अधिकतर भाषा या बोली में किया जाता है। ठाट शब्द का अर्थ सितार के तार से लिया जाता था। सितार या इसराज जैसे यंत्र वादन में सुन्दरियों को सरकाकर उसमें ऐसा प्रबन्ध किया जाता था कि उस पर विभिन्न राग बनाये जा सकें। इस प्रकार यंत्र वाद्य बनाने वालों को थाट शब्द का प्रयोग बारम्बार करना पड़ता है। क्योंकि उनके वाद्यों पर अलग-अलग राग बजाने के लिए उन्हें अलग-अलग स्वर व्यवस्था करनी पड़ती थी। इस प्रकार यंत्र वादकों के द्वारा थाट पद्धति का शनैःशनै विकास होने लगा।

यद्यपि थाट पद्धति के प्रयोगकर्ता के रूप में पं. विष्णु नारायण भातखण्डे (चतुर पंडित) का नाम

एम.फिल., संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सर्वोपरि है। पं. विष्णु नारायण भातखण्डे के अनुसार "प्रत्येक राग की जो आवश्यक स्वर रचना है उसी को थाट कहते है।" भातखण्डे जी ने रागांग पद्धति की आलोचना करते हुए मध्यकालीन मेल पद्धति के ही आधार पर थाट वर्गीकरण की पद्धति का निर्माण किया। इससे स्पष्ट है कि थाट पद्धति का प्रयोग मध्यकाल के पश्चात् ही किया गया।

थाट शब्द को विभिन विद्वानों ने अपने-अपने अनुसार परिभाषित किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार 'मेल स्वर समूहः स्याद्रागव्यंजन शक्तिमान'। अर्थात् मेल अथवा थाट स्वरों की एक विशिष्ट रचना होती है जिससे राग उत्पन्न हो सकते हैं।

पं. फिरोज क्रॉम जी के अनुसारः 'रागों का जिन स्केलों में वर्गीकरण किया गया है, उन्हें ही मेल अथवा थाट कहते हैं।'

कैप्टन विलियर्ड ने मोड्स तथा ठाट को एक दूसरे के बहुत निकट बताया है। A that comes nearest to what which with is implied by a made, and consists in determining the exact relative distances of the several sounds which constitutes on octave with respect to each other.

कुछ विद्वान ठाट को एक ढांचा या बुनियाद भी मानते हैं, जिनके ऊपर रागों का अस्तित्व भी टिका हुआ है और जिस पर राग रूपी महल खड़ा है। नींव के लिए दृढ़ता की आवश्यकता है सौन्दर्य की नहीं। ठीक उसी प्रकार ठाट में रंजकता होना आवश्यक नहीं, पर रागों का गुण उसकी रंजकता ही है। अतः ठाट एक ढांचा है जो अभिष्ट ध्वनियों की प्राप्ति के लिए आधार का काम करता है।

स्वामी प्रज्ञानानन्द जी ने भी इस प्रकार कहा कि ठाट एक प्रकार की स्वरों से निर्मित बुनियाद है, और रागों का ढांचा इन्हीं पर खड़ा किया जाता है। ठाट की कल्पना मूर्च्छना से आई, जो कि स्वरों के आरोह अवरोह से निर्मित छः सात स्वरों का ढांचा मात्र है।

थाट पद्धति से पूर्व मध्यकाल में मेल पद्धति का विकास हुआ है। इस पद्धति का मुख्य क्षेत्र दक्षिण भारत रहा है। विद्यारण्य ही मेल शब्द के जन्मदाता है तथा इन्होंने 15 मेलों में रागों का वर्गीकरण किया है। मेल शब्द का अर्थ है मेलन प्रकार या किसी विशिष्ट स्वरावली को प्राप्त करने की विधि।

13वीं शताब्दी के पश्चात् उल्लेखित राग वर्गीकरण पद्धति को आधुनिक काल में कुछ विद्वानों ने फारसी या अरबी मुकाम के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। आचार्य बृहस्पति ने भारतीय संगीत में मेल पद्धति को मुसलमानों की मुकाम पद्धति के प्रभाव का ही फल माना है।

संस्थान शब्द के रूप में मुकाम और थाट शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 14वीं शताब्दी में लोचन ने राग तरंगिणी ग्रन्थ में मेल के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया। संस्थान शब्द का अर्थ है 'सम्यक् रूप से जांचा गया स्थान।'

अतः मेल, थाट, मुकाम, संस्थान ये समस्त शब्द समानार्थक ही है। समय और उपयोगिता के आधार पर इनके नामों में कुछ भिन्नता पाई गई है। वर्तमान समय में भातखण्डे जी द्वारा रचित कल्याण, बिलावल, खमाज, भैरव, पूर्वी, मारवा, काफी, आसावरी, भैरवी, तोड़ी इत्यादि दस थाटों से युक्त थाट पद्धति का प्रचलन है। थाटों में ही रागों की उत्पत्ति मानी जाती है। इस दृष्टि से भातखण्डे जी ने मध्यकाल में प्रचलित 72 मेलों से 10 थाटों का निर्माण किया और इन्हीं दस थाटों से भिन्न-भिन्न रागों की उत्पत्ति मानी गई है और तभी से भारतीय संस्कृति में थाट को जनक और रागों को जन्य मानने का व्यवहार है।

इस प्रकार थाट पद्धति को पूर्णरूपेण विकसित होने में 800 वर्ष लगे। विकास की इस धारा में धीरे-धीरे परिवर्तन आये। आज जिस थाट पद्धति का प्रयोग संगीत जगत में पूर्णरूपेण किया जा रहा है। यह किसी व्यक्ति के प्रयास का फल नहीं वरन् अनेकों विद्वानों के सदियों तक सतत् परिश्रम का परिणाम है।

अध्यात्म और भारतीय संगीत का अन्योन्याश्रित संबंध

डा. अमिता पांडे

अध्यात्म जीवन का ऐसा सुमुधर गीत है, जिसे स्वयं भगवान ने गाया है। धर्मभूमि कुरूक्षेत्र में खड़े विश्वरूप विश्वगुरू श्री कृष्ण ने अध्यात्म का यह काव्य कहा है। इसमें सृष्टि का सरगम है, जीवन के बोल हैं। सृष्टि सृजन, स्थिति और विलय का कोई भी ऐसा सुर नहीं जो अध्यात्म में न लगे हों। इसी तरह जीवन के सभी आयाम, सभी विधाएं अध्यात्म में बड़े ही अपूर्व ढंग से रचित हैं। इस दिव्य गीत के सृष्टि सप्तक अर्थात् सप्त लोक को अष्टधा प्रकृति के साथ अध्यात्मचित शक्ति ने अपनी सुमधुर स्वरावलियों में गूंथा है।

अध्यात्म समस्त ज्ञान का आदि है अंत है। यह ब्रह्म विद्या है, यह योग शास्त्र है, यह अनंत है, इसमें सृष्टि व जीवन के सभी रहस्य कहे-सुने-समझे व आत्मसात किए जाते हैं। परन्तु इन रहस्यों का साक्षात् व साकार तभी स्पष्ट होता है जब मनुष्य अपने अंतस् में अपने स्वरों को झंकृत करे जो भगवान् के साथ समस्वरित हो।

अध्यात्म के स्वरों ने साधकों के अंर्तमन में साधना का संगीत घोला है। इसकी सुरीली सरगम ने सात स्वरों व सप्त लोकों के रहस्य संजोए हैं। हां, इतना ज़रूर है, यह रहस्य केवल साधकों की साधना में ही उजागर होते हैं। अंत-र्यात्रा पथ के पथिक ही इन्हें अपनी राहों में मील पत्थरों की भांति देख पाते हैं। "अध्यात्म का यह पथ अति दुर्गम, रहस्यों और भूल-भूलैयों से भरा है। इस पर चलना आसान नहीं है। ऋषियों ने उसकी दुर्गमता का अहसास कराते हुए कहा है - "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वर्वन्त' यानि कि अध्यात्म - पथ पर चलना छुरे की धार पर चलना है, यह पथ अति दुर्गम है। यह अनुभव उनका है जो इस पथ पर चले हैं।"[1]

'अध्यात्म' शब्द 'अधि' व 'आत्म' दो शब्दों के योग से बना है, जिसमें 'अधि' अधिष्ठान शब्द का पूर्व आदर्श है। अधिष्ठान आधार पात्र या वास स्थान को कहा जाता है। आत्मा के सन्दर्भ में अधिष्ठान शब्द शरीर के लिए प्रयुक्त होता है। क्योंकि शरीर ही आत्मा का वास स्थान है। अतः 'अध्यात्म' का शाब्दिकअभिधयार्थ है - "शरीर में स्थित आत्मा अर्थात जीवात्मा, अध्यात्म शब्द 'ओध' उपसर्ग तथा आत्मन शब्द से मिल कर बना है। विद्वानों ने अध्यात्म शब्द का अत्यन्त रहस्यात्मक विवेचन किया है और उसका संबंध आत्मा से माना है।[2]

हिन्दी विश्व कोष में अध्यात्म की परिभाषा इस प्रकार दी गई है- "(1)आत्मानां देहिनिन्द्रियादिकंक्षेत्रज्ञ ब्रह्म व अधिकृत्य आत्मा अथवा ब्रह्म को अधिकार कर, रूह या परमेश्वर की बावत (2) पर ब्रह्म, परमेश्वर (3) आत्म विषयक, रूहानी" अशोक मानक विशाल हिन्दी कोष में अध्यात्म को इस प्रकार परिभाषित किया गया है:

"अध्यात्म - पु. (सं. अधि-आत्मन् अव्य.स. (वि. अध्यात्मिक 1. परमात्मा / 2. आत्मा / 3. आत्मा तथा परमात्मा के गुणों और उनके पारस्परिक संबंधों के विषय में किया जाने वाला दार्शनिक चिंतन, निरूपण या विवेचन।"(4)

अध्यात्म अपने अस्तित्व को गहराई से अनुभव करने का नाम है। ध्यान में हम अनुभव करते हैं, अपने इष्ट पर एकाग्र होते हैं, तथा वह एकाग्रता हमें उसका जीवन बोध कराती है। इससे अन्तः प्रेरणा जागती है, अंतर्दृष्टि खुलती है। यही अध्यात्म का द्वार है, जहां से हम अपने अस्तित्व में जमें-दबे संस्कारों को

विभागाध्यक्षा - कंठ संगीत विभाग, ए.पी.जे. कालेज औफ फाईन आर्टस, जालन्धर।

परिष्कार, परिमार्जन करते हैं तथा वास्तविक क्षमताओं को विकसित करते हैं। "हम जब अपने अंदर की क्षमताओं का खनन करते हैं, खुदाई करते हैं तो आंतरिक विभूतियां जागृत होती हैं और जब भौतिक जगत में इस प्रक्रिया को क्रियान्वित करते हैं तो भौतिक उपलब्धि हस्तगत होती है।"[5]

सृजनशीलता मानवीय चेतना का केन्द्रिय तत्व है। परिस्थितियों की प्रतिकूलताएं मानव की सृजनेच्छ को अवरुद्ध नहीं कर पाती है। अपनी शक्तिमयी इच्छा के बल पर मानव नाना वस्तुओं-तथ्यों का अविष्कार करता रहता है। इतना ही नहीं, वह अपनी अन्तश्चेतना से प्रेरित होकर अध्यात्मिक मूल्यों की रचना के साथ उनका अनुपालन भी करता है। वस्तुतः मनुष्य की यही प्रकाशमयी प्रवृति उसे 'मानव' की संज्ञा प्रदान करती है। अध्यात्म से मानव सज-संवर कर, आप्त आनंदित होकर, दूसरों को प्रसन्न प्रमुदित कर उदात मानवीय पथ पर अग्रसर होता है। जिन तत्वों से मानव अपना मानसिक परिष्कार करता है और परिष्कार के उपरान्त अपनी उज्जवल वृतियों से आत्म उत्थान करता है वह अध्यात्म है। अध्यात्म उसे माना गया है जो विश्वास दिलाता है कि जगत में एक शाश्वत अवस्था है जिससे प्रबल आशा मिलती है। धार्मिक भावना पौराणिकता तथा संगीत भक्ति भावना अध्यात्म के प्रमुख अंग हैं।

प्रत्येक मानव अध्यात्म से जुड़ा है, क्योंकि अध्यात्मिक होना किसी धर्म से जुड़ना नहीं अपितु अपने आप से जुड़ना होता है, उस परम सत्ता से जुड़ना होता है जिसके हम अंश हैं। सृष्टि के रचनाकार परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव प्राणी है। मानव की परम जिज्ञासा और परम लक्ष्य अपने रचनाकार परमात्मा का साक्षात्कार करना स्वाभाविक है। इस जिज्ञासा और लक्ष्य प्राप्ति के लिए मानव अनेक साधनों को ढूंढता चला आ रहा है। सभी साधनों में सर्वश्रेष्ठ साधन मानव को संगीत ही प्राप्त हुआ। यह साधन अध्यात्म से स्वतः ही जुड़ता चला आ रहा है। भारतीय संगीत का उद्गम बिन्दु अध्यात्म ही रहा है तथा अध्यात्म का प्रेरणा स्रोत संगीत माना जाता है। अध्यात्म संगीत की आत्मा है तो वहीं संगीत अध्यात्म की अभिव्यक्ति है। संगीत कला के बिना अध्यात्म और अध्यात्म रहित भारतीय संगीत की कल्पना प्राण रहित शरीर के समान है।

संगीत की सिद्धि तभी प्राप्त होगी जब आत्म ज्ञान होगा। संगीत पूर्णतः अध्यात्म भाव ही है क्योंकि अपने अन्दर ही स्वरों और तालों का संसार है, उन्हीं को ढूंढना उनको संवारना, सजाना, आत्मा का ही कार्य है। संगीत भी आन्तरिक ज्ञान है कोई बाहर की चीज़ नहीं है। संगीत वही सीखकर साध्य कर सकता है जिसको दैवी देन परिवेश, ध्यान रूचि आदि के आत्म ज्ञान की प्राप्ति हुई हो। आत्महीन संगीत कोलाहल है। संगीत का शास्त्रीय ज्ञान ही वास्तव में संगीत कला है। 'शास्त्रीय ज्ञान से ही आत्मकल्याण एवं आत्मानन्द का अनुभव होता है। भारतीय संगीत और अध्यात्म का वास्तविक उद्देश्य है उसके द्वारा इस लोक में सर्वांगीण अभ्युदय और परलोक में परमनिःक्षेयस मोक्ष की प्राप्ति'[6]

जगत् परमात्मा के संकल्प की अभिव्यक्ति है। अध्यात्म और संगीत परमात्म चेतना की दो धाराएं हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों के सुमेल संयोग से ही मानव को पूर्णता एवं समग्रता प्राप्त होती है। तात्विक रूप में इसमें कोई भेद नहीं है। भेद इनके अलौकिक स्वरूपों में है, परन्तु यह भेद भी बड़ा अनोखा, अदभुत एवं रोमांचक है। एक भाव-संवेदना की सजल मूर्ति है तो दूसरा प्रज्ञा का प्रखर स्वरूप, अध्यात्म और संगीत दोनों में विस्मयकारी विशेषताएं हैं। दोनों परमात्मा चेतना की अभिव्यक्ति का दिव्य सौन्दर्य हैं। जब तक इनका मिलन नहीं होता तब तक विशिष्ट साधनाएं पूर्ण नहीं होती।

संगीत का मानव जीवन में अनादिकाल से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। हमारे देश में संगीत के साथ अध्यात्मिकता का पुट भी मिलता है। जिस तरह प्रत्येक देश की अपनी एक निजी संस्कृति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक देश का अपना एक संगीत होता है। शास्त्रीय संगीत भारतवर्ष की मूल संस्कृति-सभ्यता के साथ-साथ एक विशिष्ट संगीत की धारा है जो अध्यात्म से ओत-प्रोत होकर विश्व में सबसे पुरातन है। शास्त्रीय संगीत सुरों का मेल है, इसकी लयात्मकता में एक माधुर्य है, गति है। यह संगीत हमारे अध्यात्मिक मन के तारों को स्पंदित करती है, भावनाओं के तन्तुओं को झंकृत करतीं हैं और मन व भाव अध्यात्म के महासागर में डूबने-उतरने लगता है। किस सुर में मन का कौन सा कोना झंकृत होता है, किस सुर से भावनाओं का कौन सा

तार जुड़ा है, यही भारतीय शास्त्रीय संगीत की मुख्य विशेषता है। शास्त्रीय संगीत पवित्र गंगा की तरह है, जो स्वच्छन्द प्रवाह से अपनी तरह बहने वाली स्वच्छन्द प्रवाहिणी यमुना, सरस्वती के संगम के अनन्तर भी गंगा ही कहलाती है और आगे चलकर अन्य धाराओं को आत्मसात करती हुई भी अपने नाम को नहीं छोड़ती। इसी तरह अध्यात्म रूपी भारतीय शास्त्रीय संगीत भी अन्य संगीत की धारा या धाराओं से प्रभावित होकर भी शास्त्रीय संगीत की धारा अपने नाम से चली आ रही है। यही इसकी अद्वितीय महत्ता और विशेषता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत अपने विशुद्ध, मौलिक और अध्यात्मिक दृष्टि से आदि है अनन्त है।

जब संगीत का सृजन होता है तब उसकी कृतियों में अध्यात्म का परस्पर एक आदर्श अनुक्रम में संशोधन होता है। उस संशोधन के उद्भावना से पूर्व उक्त अनुक्रम अपने आप में पूर्ण होता है, परन्तु अध्यात्म के समावेश से उस अनुक्रम में एक नवीनता की सृष्टि होती है। संगीत में अध्यात्म का संबंध समानुपात और मूल्य समंजित होता है। यहीं संगीत और अध्यात्म परस्पर अनुरूपता है। अध्यात्म से संगीत को दिशा मिलती है और संगीत से अध्यात्म निर्देशन होता है।

भाव, विचार और कल्पना ये अध्यात्म और संगीत की आत्मा है। भारतीय संगीत में अध्यात्म परिव्याप्त है। संगीत का निर्माण भी तो अध्यात्म प्रिय मानवों ने ही किया है इसलिए उसमें अध्यात्म का अस्तित्व स्वाभाविक है। अध्यात्मिक प्रवृति में सांगीतिक और सांगीतिक प्रवृति में आध्यात्मिक प्रवृति छिपी हुई है। दोनों में से जो प्रवृति प्रबल होती है वह व्यवहार में प्रबल सिद्ध होती है। अतः कभी-कभी संगीतज्ञ आध्यात्मिक पुरूष की भांति तथा कभी-कभी अध्यात्मिक पुरूष संगीतज्ञ की तरह व्यवहार करते हैं।

अध्यात्म और भारतीय संगीत विलग नहीं रह सकते, वे अन्तःकरण के साथ ही साथ प्रकट होते हैं और इनका विकास भी साथ-साथ ही होता है। संगीत और अध्यात्म का हृदय में जिज्ञासा के साथ भाव एवं विवेक का उदय प्रायः एक साथ ही होता है। साधक की साधना के अनुसार जब उसका चित्त शुद्ध होता है, तब उसी अनुरूप संगीत और अध्यात्मिक प्रवृति परिपक्व होती जाती है। अध्यात्मिक भावना वशीभूत होकर जब स्वरों में उमड़ती है तो सच्चे संगीत का जन्म होता है। संगीत अपने में नैसर्गिक आनंद को समाहित किए रहता है। संत-महात्मा इस आनंद का रसास्वादन संगीत के माध्यम से करते एवं कराते थे। इन संतों में बल्लभाचार्य, सूरदास, स्वामी हरिदास, चैतन्य महाप्रभु आदि आते हैं। अध्यात्मिक भाव में पगे इन संतों की वाणी में संगीत फूटता था। "चैतन्य महाप्रभु कीर्तन के माध्यम से कृष्ण की भक्ति करते थे। उन्हें महाभाव का प्रतीक माना जाता है। एक बार वे कीर्तन करते हुए चले जा रहे थे। उन्हें जब पता चला कि वे जिस भूमि पर खड़े हैं, उसी की मिट्टी से मृदंग बनता है और मृदंग कीर्तन का मुख्य यंत्र है, जिससे वे प्रभु का कीर्तन करते हैं। यह सुनकर चैतन्य महाप्रभु उसी ज़मीन में गाते-गाते समाधिस्थ हो गए थे। सूरदास तो केवल भगवान कृष्ण का गान ही करते थे। मतवाली मीरा के जीवन में भी भगवान कृष्ण संगीत के माध्यम से झरते थे।[7]

अध्यात्म का संगीत के साथ घनिष्ठ संबंध है, जो मानव हृदय में रसानुभूति की सृष्टि करता है, वह मानव जीवन को स्पर्श किए बिना कैसे रह सकता है। वस्तुतः अध्यात्म भारतीय संगीत के लिए है और भारतीय संगीत की व्याख्या को ही अध्यात्म कहा जा सकता है। आत्मा और ज्ञान की तरह ही भारतीय संगीत और अध्यात्म का अन्योन्याश्रित संबंध है। आत्मा के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना आत्मा की कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकार संगीत के बिना अध्यात्म और अध्यात्म के बिना भारतीय संगीत की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाण्डया डा. प्रणव, अखण्ड ज्योति, दिसंबर 2004 ई., पृ.43
2. सिंह सतखोज राज, अध्यात्म चिन्तन, पृ. 6
3. बासु श्री नागेन्द्र, विश्वनाथ बासु, हिन्दी विश्वकोष, पृ. 374
4. वर्मा राम चन्द्र, मानक हिन्दी कोष, पृ. 82
5. पाण्डया डॉ. प्रणव, अखण्ड ज्योति, मार्च 2008 ई., पृ.13
6. खेमका राधे श्याम, कल्याण, वर्ष 1964ई0, पृ. 74
7. पाण्डया डा. प्रणव, अखण्ड ज्योति, मार्च 2006 ई., पृ. 28

घराना व घरानों की तालीम

रूपाली जैसवार

शिक्षा संबंधी जिन कठिनाइयों का सामना आज भारतीय शास्त्रीय संगीत को करना पड़ रहा है। शायद वैसा किसी अन्य विषय या कला को नहीं। अच्छे नए कलाकारों का उत्पन्न ना होना आज के शास्त्रीय संगीत की सबसे बड़ी समस्या बन गई है। यों सरसरी तौर पर देखने से ऐसा लगता है कि आधुनिक युग में शास्त्रीय संगीत का शिक्षण और प्रचार बहुत व्यापक हो गया है। एक दृष्टि से यह सही भी है। आजकल शास्त्रीय संगीत के जितने समारोह आयोजित किये जा रहे है जितने विद्यालयों विश्वविद्यालयों और संगीत संस्थाओं में संगीत की शिक्षा दी जा रही है समूचे इतिहास में ऐसी देखने को नहीं मिलती। लेकिन यह बड़ी अजीब बात है कि इतने पर भी ये शिक्षण संस्थाएँ अच्छे और प्रभावशाली मंचीय कलाकारों की जन्म भूमि नही बन पा रही है। यदि कोई प्रतिभा अपवाद स्वरूप इनमें विकास कर भी जाती है तो भी उसका स्तर मध्यम कोटि से बहुत ऊपर नहीं उठ पाता ऐसा भी नहीं कि अच्छे कलाकारों का संबंध इन संस्थाओं से रहता ही न हो। कुछ ऐसे प्रतिभाशाली और लोकप्रिय व्यक्ति भी है, जिन्होंने संगीत की प्राइवेट संस्थाओं या विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाई है। लेकिन वस्तुतः इसके मूल में उनका उद्देश्य डिग्री पाना ज्यादा रहा, कला की शिक्षा लेना बहुत कम। संगीत की सच्ची तालीम के लिए उन्हें भी किसी उपयुक्त गुरू की शिष्यता ग्रहण करनी पड़ी। कला की सच्ची तालीम के लिए उन्हें भी व्यक्तिगत रूप से गुरू के प्रति समर्पित होना पड़ा। डिग्री देने वाले संस्थाओं ने उन्हे कलाकार बनाया यह मानना गलत होगा, संस्थागत शिक्षण पद्धति के पक्ष में एक तर्क दिया जाता है कि जब विश्वविधालयों में साहित्य के शिक्षण का उद्देश्य कवि कहानीकार या उपन्यासकार बनाने की उम्मीद नहीं की जाती है। साहित्य में भी तो कविता कहानी उपन्यास, नाटक, आदि के सिद्धान्त पढाये जाते है। विद्यार्थियों को कविता लिखने की तालीम तो नहीं दी जाती फिर संगीत से ही कलाकार बनाना नहीं माना जाता तो संगीत शिक्षा से कलाकार बनाने की उम्मीद क्यों की जाए? तर्क अच्छा है लेकिन उतना मजबूत नहीं जितना सुनने में लगता है। असल में साहित्य और संगीत को हम एक तराजू पर रखकर नहीं तौल सकते। लिखे व पढ़े जाने की क्षमता साहित्य की सबसे बडी विशेषता है। कहानी हो या उपन्यास, कविता हो या नाटक सब कुछ लिखा जा सकता है। उसी को पढ़कर साहित्य का संपूर्ण ज्ञान भी अर्जित किया जा सकता है। परन्तु यह सुविधा संगीत को उपलब्ध नहीं। संगीत की सबसे बड़ी समस्या यह है कि उसे एक सीमा तक ही लिखा पढ़ा जा सकता। दरबारी के गंधार को जब तक प्रत्यक्ष सुनकर और स्वयं गाकर महसूस नहीं कर लिया जाता, तब तक उसके लिखने और पढ़ने की कोई उपयोगिता नहीं इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यार्थी को जब तक संगीत के क्रियात्मक पक्ष की पूरी तालीम नही दी जाती तब तक कोरे सिद्धान्त की चर्चा से कुछ भी नहीं हो सकता अगर विश्वविद्यालयों ने भारतीय संगीत की शिक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिया हैं तो उसकी क्रियात्मक तालीम का उत्तरदायित्व भी उन्हीं का हैं। इससे वे बच नहीं सकते और शायद बचना भी नहीं चाहते तो फिर क्या कारण है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा संगीत के विद्यार्थियों में उन रचनात्मक क्षमताओं का

एम.ए. उत्तरार्ध (सितार) बी.डी.जैन, पी.जी.कॉलेज, आगरा

विकास नहीं कर पा रही, जिनका एक अच्छे कलाकार का होना जरूरी है। यह सवाल हमारी सामाजिक परिस्थितियों से बहुत गहरा जुड़ा हुआ है। दरअसल शिक्षा की प्रणाली और शिक्षा के विषय में बड़ा अंतरंग रिश्ता होता है। आज हम जिसे शास्त्रीय संगीत कह रहे हैं, उसका विकास जिन सामंतीय परिस्थितियों में हुआ था, वे आज से एकदम भिन्न थीं शास्त्रीय संगीत के गुण ग्राहक तब राजा महाराजा थे और वहीं पर संगीतज्ञों और उनके शिष्यों का पालन पोषण होता था। उस समय की तालीम बड़ी मेहनत मांगती थी। स्वर ज्ञान में ही कभी-2 बरसों लग जाते थे। एक-एक हजार दानों की माला के साथ स्वर का रियाज होता था। विद्यार्थी के स्वर ज्ञान से गुरू जब संतुष्ट हो जाते तभी राग और उसकी बंदिश का नंबर आता था। एक-2 राग की तालीम बरसों चलती थी। उस जमाने की आम धारणा थी कि एक साधे सब सधें, सब साधे सब जाये यानी एक राग अगर पूरी तरह साध लिया तो दूसरे राग बडी आसानी से समझ में आ जाएँगे। गायन वादन तथा नृत्य तीनों पर यही सिद्धांत लागू होता है।

घरानों की तालीम में गुरू की हर बात आज्ञा होती थी, जिसका पालन शिष्य के लिए अनिवार्य था और गुरू शिष्य के बीच वही रिश्ता मानते थे जो एक डाक्टर और एक मरीज के बीच होता है। अगर गुरू ने कह दिया कि अमुक पलटे कम से कम एक हजार बार पलटों फिर शिष्य की क्या हिम्मत कि वह नौ सौ निन्यानवे पर ही छोड़ देने की हिमाकत कर सके। शिष्य महफिल में गाने के योग्य है या नहीं इसका फैसला भी गुरू के हाथ में था। उस्ताद अपने शिष्य से पूरी तरह सन्तुष्ट हो जाते, तभी मंच पर गाने की अनुमति देते थे तथा अपने घराने को श्रेष्ठतम समझने की भावना ने संगीत को बेहद गोपनीय बना दिया था। तालीम तो दूर की बात है रियाज तक किसी गैर के सामने वर्जित था। घरानों की इस प्रवृत्ति ने गायकी की भिन्न-2 शैलियों को विकसित किया और अपनी-2 गायकी की विशेषताओं को चरम सीमा तक पहुंचाया। किसी घराने में स्वर पर जोर दिया तो किसी ने ताल और लय पर तो कोई तानों के चमत्कारिक प्रयोग में उलझा रहा। मिसाल के तौर पर ग्वालियर घराने को ही लें। खुले और बुलंद स्वर इस घराने की अपनी विशेषता है ग्वालियर घराने की तान ज्यादातर दानेदार होती है और अपनी स्पष्टता और बुलंदी के कारण चारों ओर मशहूर भी हैं इसी तरह किराना घराना अपने सुकून और चैनदारी के लिए जगत प्रसिद्ध हैं। मधुर कंठ के साथ स्वर का ऐसा प्रयोग जो बरबस हृदय को खींच ले इस गायकी की मौलिक विशेषता है। अतिविलंबित लय का ख्याल, आलाप, मींड, मुलायम खटके स्वर सकोंच तथा विस्तार से उत्पन्न भावात्मकता इस घराने ने सहृदय श्रोताओं में बहुत सम्मान पाया। जहाँ किराना गायकी में स्वर सौंदर्य मोहित करता है वहीं आगरा घराना की गायकी लय और ताल के चमत्कारों से श्रोता को चकित कर देती हैं। इस घराने में बंदिश को पेश करने के नए-नए ढंग बोलतानों का विस्तार दमदारी बंदिश के बोलों के साथ पलटों की बढ़त और ताल की टेढ़ी तिरछी जगहों से तान की शुरूआत इस सबका नाम है। आगरा घराना इस गायकी को सुनने से ही महसूस हो जाएगा कि इसे पूरी तरह गले में उतारने के लिए सही तालीम और कठोर साधना की कितनी भारी आवश्यकता है।

इस तरह निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते है इन कुछ उदाहरणों से यह बात साफ हो जाती है कि शास्त्रीय संगीत को पनपने के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता है वह आज के विश्वविद्यालयों में नहीं मिल सकता, गुरू और शिष्य का नितांत व्यक्तिगत रिश्ता शास्त्रीय संगीत की तालीम की सबसे महत्वपूर्ण शर्त थी जिसे हमारे वर्तमान विश्वविद्यालय पूरा नहीं कर सकते। विद्यार्थी चौबीसों घंटे गुरू की निगरानी में रहे, यह संस्थागत शिक्षण में संभव नहीं हैं क्योंकि यहाँ विद्यार्थी को एक ही समय में अनेक गुरूओं से तालीम लेनी पड़ती है। जाहिर सी बात है कि ये सभी का अपना अलग-2 तरीका भी होता। एक घराने का गुरू दूसरे घराने की तालीम की अवहेलना करता है और अपने घराने की तालीम को ही सर्वश्रेष्ठ तालीम समझता है। इन सबसे विद्यार्थी को रचनात्मक क्षमता का विकास नहीं हो पाता। विश्वविद्यालयों की शिक्षा में संगीत के सैद्धांतिक शिक्षण का बहुत महत्व होता है और

संस्थागत शिक्षण की दूसरी बड़ी कमजोरी है शिक्षा का सामूहिक स्वरूप। एक कक्षा में एक साथ कई सारे विद्यार्थियों की तालीम गुरू और शिष्य में वैसा संबंध नहीं बनने देती जो घरानों की तालीम में स्वतः पैदा हो जाता था। असल में इतने थोडे समय में हर विद्यार्थी पर अलग-2 ध्यान भी नहीं दिया जा सकता ऐसी अनेक समस्याओं के परिणाम स्वरूप आज विश्वविद्यालयों से ऐसा विद्यार्थी बाहर आ रहा है जिसका दृष्टिकोण तो व्यापक है और वह संगीत के सैद्धांतिक पक्ष से भी परिचित है परन्तु उसकी कलात्मक क्षमता किसी घरानेदार शार्गिद का मुकाबला नहीं कर पाती। वह शास्त्रीय संगीत का अच्छा कलाकार नहीं है। ये विद्यार्थी ही बाद में शिक्षक बनते है और उसी तरह की शिक्षा अन्य विद्यार्थियों को देते है। इस प्रकार शिक्षा का यह क्रम चलता जा रहा है। जिसमें कलाकार पैदा होने की सारी उम्मीदें ही खत्म हो गई हैं। आज घरानों को पुनर्जीवन दिया जाना चाहिए। सच तो यह है कि घराने पुनः जीवित किए भी नहीं जा सकते। आकाशवाणी, दूरदर्शन, टेप रिर्काडर आदि माध्यमों ने घराने की लक्ष्मण रेखाओं को हमेशा-2 के लिए समाप्त कर दिया हैं उनकी अलग-2 पहचान खत्म हो रही हैं। नए उभरते कलाकार शैलीगत संकीर्ण बंधनों से ऊपर उठ कर दूसरों की कलात्मक खुबियों को बेजिझक अपना रहे हैं और अपनी कला को अधिकाधिक संवेदनशील बना रहे है। आधुनिक प्रगतिशील युग हैं। यदि हम चाहते है कि विश्वविद्यालयों में शास्त्रीय संगीत की क्रियात्मक तालीम का वास्तविक लाभ मिले तो व्यापक दृष्टिकोण वाले शिक्षित कलाकारों से विद्यार्थी का सीना व सीना तालीम दिलवाने की व्यवस्था करनी होगी इससे घरानों की दमपूर्ण सांप्रदायिकता समाप्त हो सकेगी और शास्त्रीय संगीत का खुले आकाश में श्वांस लेने का अवसर मिलेगा।

सन्दर्भ सूची

1 गर्ग लक्ष्मी नारायण, घराना अंक, प्रभुलाल गर्ग,
2 गर्ग लक्ष्मी नारायण, निबंध संगीत
3 चौबे डा. सुशील कुमार, संगीत के घरानों की चर्चा
4 भैरवी संगीत शोध पत्रिका, वर्ष 2011 अंक 4
5 संगीत कला विहार, नवम्बर 2012, अंक 11

अप्रचलित (क्लिष्ट) तालों का प्रयोग : समस्या एवं समाधान

प्रियंका पाण्डेय

ताल शब्द 'तत्' धातु में 'क्त्' प्रत्यय लगाकर बना है। जो संगीत की तीनों विधाओं गायन, वादन एवं नृत्य का आधार तत्व माना जाता है। संगीत रत्नाकर के तालाध्याय में शारंगदेव का कथन है कि–

"तालस्तल प्रतिष्ठायमिति धातोर्घस्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।।"
(सं.रं0पृ03)

अर्थात् ताल से ही संगीत की प्रतिष्ठा होती है इसका अर्थ यह है कि गायन, वादन तथा नृत्य में लगने वाला समय ताल रूपी पैमाने से मापा जाता है।

किसी भी रीति के प्रचलन और अप्रचलन का प्रमाणीकरण उसके उपयोग पर निर्धारित होता है, चाहे वह भाषा हो, सांस्कृतिक व्यवहार हो, सामाजिक रीतियाँ हो, आदि सभी के निरन्तर उपयोग पर ही हमें वह सहज प्रतीत होते हैं।

भारतीय संगीत में ताल का विशेष महत्व एवं स्थान है। ताल समपदी तथा विषमपदी दोनों प्रकार के है एवं अलंकारों के रूप में उन तालों में भी विविध लयकारी के प्रयोगों की अनुमति है। हमारे छन्दों में सम एवं विषम मात्राओं के पृथक-पृथक एवं समन्वित रूप विद्यमान रहे है तथा इन्हीं छन्दों का अनुकूल सम तथा विषम दोनों प्रकार के तालों का इस देश में आर्विभाव हुआ होगा। तालों का वास्तविक स्वरूप कैसा हो इसका निरूपण संस्कार के आधार पर सम्भव है। पाश्चात्य संगीतज्ञों को भारतीय छन्दों का ज्ञान न होने के कारण तदानुकूल तालों को वे केवल बौद्धिक चमत्कार मानते है, जबकि भारतीय संगीत के झपताल, रूपक, दीपचन्दी जैसे-विषम खण्डों पर आधारित ताल हृदय को उसी प्रकार अनुरंजित करने की क्षमता रखते है जैसे सम खण्ड वाले त्रिताल, दादरा, चौताल, एकताल आदि। उच्चांग संगीत की रसानुभूति के लिए केवल हृदय पक्ष की ही नहीं बल्कि बुद्धिपक्ष का भी पूर्ण विकास अपेक्षित है।

अथर्ववेद भी कहता है जो मस्तिष्क और हृदय को एक साथ सी लेता है, वहीं वस्तुतः उस तत्व को जान पाता है। बुद्धि और हृदय को एक करना होता है। हृदय के ज्ञान का सम्बन्ध भावनात्मक ज्ञान से है, भावना संश्लेष करती है बुद्धि विश्लेष करती है। बुद्धि का स्वरूप है चीजों को बांटकर समझना, हृदय का समझना सबको एक करके देखना है। उच्चांग कला कृतियों में हृदय तथा भावपक्ष का विकसित बुद्धि पक्ष के साथ अभिच्छेद समन्वय होता है।

क्लिष्टता तालों का स्वाभाविक गुण नहीं है। यह बुद्धि कौशल का प्रतीक है एवं बुद्धिमान श्रोताओं के लिए ऐसे प्रयोग आवश्यक ही है। सर्वसाधारण श्रोताओं को भले ही वे बोधगम्य न हो, समान अन्तराल या विभागों के तथा कम मात्राओं के तालों को हम सरल ताल कह सकते है। बौद्धिक विचारों से निर्मित विषम अन्तराल वाले या विभागों के तथा अधिक मात्रा वाले ताल को हम जटिल तथा क्लिष्ट ताल कह सकते हैं।

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्राचीन काल के ताल शास्त्र का अध्ययन करने पर विदित होता है कि कई तालों के विषम मात्रिक प्रयोग, क्लिष्टता तथा जटिलता के कारण लोप हो चुका है। ताल के दस प्राणों पर विस्तृत अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि अधिकांश (प्राचीन) जटिल एवं क्लिष्ट तालों की समाप्ति का कारण वर्तमान सांगीतिक परिस्थिति में उनकी अव्यवहारिकता ही है। प्राचीन मार्ग तालों की मात्राओं में निबद्ध गीत क्लिष्ट एवं जटिल तालों का प्रयोग उच्च ज्ञान का प्रतीक समझा जाने लगा होगा और इसी कारण कठिन तथा क्लिष्ट तालों का प्रयोग संकुचित होकर कुछ लोगों तक सीमित रह गया होगा जो कालान्तर में अप्रचलित प्रकोष्ठ में स्थापित हो गया।

वर्तमान काल में संगीत में रूचि रखने वाले लोगों से अप्रचलित तालों की उपयोगिता पर प्रश्न किया जाये तो उनमें तीन विचारधाराओं के लोग मिलेंगे-

1. ऐसे लोग जो क्लिष्ट तालों के प्रयोग को भारतीय संगीत में निरर्थक होने का प्रतिपादन करेंगे।
2. ऐसे लोग जो क्लिष्ट तालों के प्रयोग का भारतीय संगीत में सार्थक होने का प्रतिपादन करेंगे।
3. ऐसे लोग जो तटस्थ विचारधारा के होंगे।

मानव आदिकाल से सहजता के अलावा विचित्रता को खोजने के लिए उत्सुक रहा है। हम आज भी देखते है कि मनुष्य ने सहज सुलभ प्रकृत के साधनों से हट कर प्राकृतिक साधनों के सहयोग से कई विचित्रताएँ एवं आश्चर्यजनक साधन प्राप्त कर लिए है, फिर संगीत इससे अछूता कैसे रह सकता। संगीत में सहज सुलभ लय के अनुसार मनुष्य ने अलग-अलग लयकारियों एवं क्लिष्ट व कठिन तालों का निर्वाह संगीत में करना प्रारम्भ किया। यह अवश्य है कि वैचित्रतापूर्ण लयों तथा क्लिष्ट तालों को समझने में सर्वसाधारण मनुष्य असमर्थ रहा, और क्लिष्ट तालों का ज्ञान एवं उपयोग बौद्धिक वर्ग तक सीमित रहा। इसी कारण सम खण्ड वाले या सरल खण्ड वाले छोटे तालों को लय की वक्रता से दूर रखकर उसका प्रचार एवं प्रसार जन-जन में होता रहा एवं क्लिष्ट तथा कठिन तालों का प्रचार एवं प्रसार समाप्त प्राय हो गया। काल और समय को रूचि की तुला पर संतुलित करने के बाद क्लिष्ट या जटिल शब्द को संकीर्णता समाप्त हो जाती है। ईश्वर प्रदत्त या मनुष्य निर्मित कोई भी वस्तु या कल्पना कपोल कल्पित नहीं हो सकती। उसे किस स्थान पर, किस काल में, किस समय पर तथा किस प्रकार उपयोग में लाया जाये यह विचारणीय प्रश्न रह जायेगा। यदि हम क्लिष्ट तालों का प्रयोग ऐसी संगीत सभा में करते हैं, जहाँ श्रोता समाज संगीत का ज्ञाता होकर बुद्धिमान हो तो वह क्लिष्ट तालों के प्रयोग की विचित्रता का आनन्द प्राप्त करेंगे। किन्तु यदि किसी संगीत सभा जहां श्रोता समाज साधारण बुद्धिवान या कम बुद्धिवाला, अशिक्षित तथा संगीत का ज्ञाता न हो वहाँ क्लिष्ट एवं जटिल तालों का निर्वाह योग्य सिद्ध नहीं होगा।

डॉ. अरूण कुमार सेन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन' में अनेक विद्वानों का मत दिया है कुछ विद्वानों के अनुसार इन क्लिष्ट तालों को संगीत जगत से निकाल देने की बात कहीं, यहाँ तक की संगीत की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम से भी निकाल देने की बात कही है। कुछ विद्वानों ने इनको शास्त्रीय ताल होने के कारण कहा है, उच्च कक्षाओं की पाठ्यक्रम में ये ताले रहे। परन्तु इन तालों का नवीनीकरण अनिवार्य है और जब वह इस समय की संगीत के लिए उपयोगी तालें बनेगी तभी इनका प्रयोग सम्भव है, और प्रयोग होने से ही ये प्रचार में आयेगी। संगीत की बड़ी-बड़ी संस्थाओं को चाहिए कि मिलकर देशव्यापी विद्वानों का सेमिनार करें और विद्वानों के विचार-विमर्श के पश्चात् इन अप्रचलित तालों को नवीन रूप देकर, संगीत जगत में पुनर्जीवित करके प्रचार में ले आने का प्रयास करें। भारत वर्ष के बड़े-बड़े कलाकार इन तालों में गाये-बजाये, टी.वी., रेडियो और संगीत सम्मेलनों में इन तालों का खुलकर प्रयोग हो तभी इन अप्रचलित तालों का पुनः उद्धार हो सकेगा। यदि ऐसा नहीं किया गया तो भविष्य में केवल दादरा, कहरवा आदि छोटी तालें जो फिल्मी संगीत द्वारा जनता के कानों सुनी जा रही है, उन्हीं को जनता जान सकेगी।

अप्रचलित तालों को प्रचलित करने के लिए प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद, भातखण्डे संगीत

विद्यापीठ लखनऊ ने इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ एवं अन्य विश्वविद्यालयों तथा संगीत संस्थाओं ने अपने परीक्षा के पाठ्यक्रम में अप्रचलित तालों को रखा है। उदाहरणस्वरूप पखावज वाद्य की कुम्भ और रूद्र 11 मात्रा की तालों को जब विद्यार्थी तबले पर तबले की वादन शैली के अनुसार स्वतन्त्र वादन करेंगे तो यह आवश्यक है वह आधुनिक समय के अनुरूप ताल बनाकर अपना वादन प्रस्तुत करें। हम यहां पर कुछ 11 मात्रा के ठेके गायकी के अनुरूप दे रहे हैं जिनका प्रयोग गायक अथवा वादक आज की संगीत में सुन्दरता के साथ कर सकते हैं और यह अप्रचलित ताल भी एक प्रचलित ताल बनकर संगीत जगत में उभरकर आ सकती है।

1. ख्याल अंग की गायकी के साथ के लिए ठेका–

धिं तिरकिट धी ना तू ना कत्त ता धीधी नाधी धीना
X 0 2 0 3

इस ठेके को स्वतन्त्र वादन में प्रयोग किया जा सकता है–

2. ठुमरी अंग की गायकी के साथ के लिए-

धिं ऽ धा धा धिं ऽ तिं ऽ धा धा धिं
X 0 2 0 3

3. ध्रुपद-धमार अंग की गायकी के लिए-

नवीन ठेका-

धा दिं ता कत धा दिं ता तेटे कत्ता गदि गन
X 0 2 0 3

4. तराना गायकी व तन्त्र वाद्य के साथ द्रुत लय के लिए ठेका

नवीन ठेका–

धा धिं धिं धा कत्त ता ती ना धी धी ना
X 0 2 0 3

5. भाव संगीत के लिए-

धा तक धिं तक ऽ तक धिं तक तक धिं तक
X 0 2 0 3

इस प्रकार यदि प्राचीन तथा क्लिष्ट तालों का नवीनीकरण कर उन्हें प्रयोग में लाया जाए तो सभी ताले जो धीरे-धीरे करके लुप्त होती जा रही है उनका प्रयोग फिर से होने लगे।

यह आवश्यक है कि तालों के बोलों का चयन और स्वरूप आधुनिक समय की संगीत के अनुरूप हो और उपयोगी हो।

अतः कहने का तात्पर्य यह है कि सम खण्ड वाले तालों के साथ-साथ यदि विषम खण्ड के तालों को निरन्तर प्रयोग में लाया जाये तो वह कलाकार और श्रोताओं दोनों के बीच में रसनिष्पत्ति करने में सफल सिद्ध होंगे।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मराठे, डॉ. मनोहर भाल चन्द्र, ताल वाद्य शास्त्र
2. सेन, डॉ. अरूण कुमार, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, म.प्र. भोपाल, म.प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी संस्करण-2005

"कव्वाली : एक गायन परम्परा"

आकांक्षा गुप्ता

पीर या खुदा की इबादत करने के लिए एकल या सामूहिक रूप से गायी जाने वाली भक्त परक रचना "कव्वाली" कहलाती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि- कव्वाली संगीत की ऐसी विधा है जो अपने मूल रूप में आध्यात्मिक काव्य और प्रारंभिक रूप में फारसी तथा कालान्तर में उर्दू भाषा में इस्लाम धर्म से सम्बन्धित थी। इसका गायन विशेष पर्वों जैसे उर्स के समय मुस्लिम समाधियों पर होता था। वर्तमान में **'अजमेर' में ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, दिल्ली में शेख़ निज़ामुद्दीन चिश्ती, फतेहपुर में सलीम चिश्ती की दरगाह पर कव्वाली गायन प्रचलित है।** कव्वाली सूफ़ी मत की सांगीतिक अभिव्यक्ति है। 'सर्वप्रथम कृष्णदेव राय के सभा पंडित लक्ष्मी नारायण ने 'संगीत सूर्योदय' की रचना की जिसके प्रबंधाध्याय में गज़ल और कौल जैसे प्रबंधों की चर्चा भी है इस विधा के भारत आने पर इसका स्वरूप वर्तमान जैसा न था तब कव्वाली गायन तीन या चार व्यक्तियों द्वारा होता था तथा स्वरों को डफ एवं चंग नामक वाद्य यंत्रों के माध्यम से अवलंबन दिया जाता था।

सर्वप्रथम ईरान के संत ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के भारत आने पर अरब देशों की राजनीतिक व धार्मिक स्थिति अच्छी नहीं थी। हज़रत मोहम्मद साहब का इन्तकाल होने के पश्चात् सत्ता हासिल करने की जो कशमकश हुई उससे मुस्लिम सम्प्रदायों में द्वन्द्व बढ़ता गया। इन झगड़ों में सुकून तलाशने के लिए सूफियों ने गली-गली मोहम्मद साहब के जीवन की घटनाओं को स्वरबद्ध रूप में गाना आरम्भ किया। प्रारम्भ में सूफी संतों ने आध्यात्मिक प्रेम (इश्क-हकीक़ी) को समझने के लिए लौकिक प्रेम (इश्के - मजाज़ी) के आख़्यानों को आधार बनाया किन्तु समय बढ़ने के साथ-साथ लौकिक प्रेम, दुनियावी इश्क और सांसारिकता इसका प्रमुख विषय बन गया।

परिचय- सूफी धर्म के अनुसार 'कल्ब' आत्मा की उच्चतम स्थिति है जो बुद्धि से संबंधित है एवं 'रूह' और 'नफस'के मध्य में स्थित है। क़ल्ब का अर्थ- हृदय, मन, मध्य, 17वां नक्षत्र और नफ़स का अर्थ है - श्वांस, दम, क्षण, लम्हा। कल्ब के प्रति सर्मपण की भावनाओं ने 'कौल' को जन्म दिया और कौल को गाने वाले ही कव्वाल कहलाये। अर्थात् कव्वाली की गान शैली होने के कारण 'कौल' को जन्म दिया और कौल को गाने वाले ही कव्वाल कहलाये अर्थात् कव्वाली की गान शैली होने के कारण 'कौल' को कव्वाली कहा जाने लगा।

कौल कव्वाली का आग़ाज़ है जिसमें पैगम्बर हजरत मुहम्मद का कोई वचन अथवा कुरान की कोई आयत स्वरबद्ध की जाती है। (कौल का अर्थ- कथन, वचन, बात या विशेष उक्ति से है।) इसमें फारसी भाषा के शब्द होते हैं। इस शैली की गजलें कव्वाली कहलाती हैं, अमीर खुसरो द्वारा रचित एक कौल उदाहरण स्वरूप–

मनकुंतो मौला फ़ अली मौला
दादा दिर-दिर दारा दिर-दिर
दिर-दिर दारा दूम
तानी तोम तोम तना रे रे रे
अल्ला हि लाही अल्लाह लाह

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

कव्वाली का स्वरूप- कव्वाली गायन की प्रथा के प्रारम्भ एवं प्रचार का प्रमुख श्रेय सूफी सन्तों को दिया जा सकता है।

कव्वाली का विषय धार्मिक एवं आध्यात्मिक होता था। इन कव्वालियों को वे लोग दरगाहों व मज़ारों पर एकान्त में अपने औलिया या पीर या खुदा की इबादत करने के लिये गाते बजाते थे लेकिन आगे चलकर इनका बुनियादी स्वरूप एवं उद्देश्य भी भिन्न हो गया। मुस्लिम प्रभाव के कारण कुछ विलासी बादशाहों व जागीरदारों ने कव्वालियों को मयखाना, मदिरा का माध्यम बनाया, कुछ ने केवल साधारण जनता के लिए मनोरंजन का साधन मात्र ही समझा। उन्होंने लोगों की रूचि के अनुसार ही कव्वालियों की रचना की और उन्हें मांगलिक अवसरों भिन्न-भिन्न उत्सवों एवं पर्वों पर गाया जाने लगा।

खुसरो रचित गीतों में उनके पीरों का नाम मिलता है और ये गीत आज भी चिश्ती सूफियों की दरगाहों पर आनुवंशिक कव्वाली के द्वारा गाये जाते हैं। मैंने स्वयं हज़रत निजामुद्दीन की दरगाह पर बसंतपंचमी के दिन आयोजित किये जाने वाले 'समा' कार्यक्रम का प्रत्यक्ष अवलोकन किया है। आज भी हजरत निजामुद्दीन औलिया एवं हजरत अमीर खुसरो की दरगाहों पर बसंत के दिन सरसों के फूल चढ़ाये जाते हैं एवं बसंत और 'धमाल' की परम्परागत रचनायें गाई जाती है।

अमीर खुसरो द्वारा रचित 'रंग' एवं धमाल की निम्न बंदिशें आज भी हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह के सामने वसंत के अवसर पर प्रस्तुत की जाती है।

रंग-

मोहे अपने ही रंग मे रंग ले तू तो साहब मेरा महबूब इलाही,
अपने ही रंग में रंग ले हमरी चुंदरिया पिया की पगरिया,
दोनों बसंती रंग ले रंग की रंगाई जो कुछ मांगे जोबन
गिरवी रख ले निजामुद्दीन औलिया तू पीर मेरा,
लाज सरम सब रख ले।

वर्तमान में दोनो प्रकार की आध्यात्मिक एवं सांसारिक कव्वालियां सुनने को मिलती है लौकिक भावों से युक्त कव्वालियाँ ही अधिकांश पाई जाती है।

खुसरो की आध्यात्मिक एवं श्रृंगारपूर्ण कव्वाली का एक उदाहरण इस प्रकार है।

बहुत कठिन है डगर पनघट की, कैसे के भर लूँ मैं जमुना से मटकी
मैं तो गई थी जमुना भरन को, दौड़ झपट मोरी मटकी पटकी खुसरो निजामुद्दीन बलि बलिजैये,
लाज रखो मोरे घूँघट पटकी इन चुरियों
की लाज पिया, रखना, ये तो पैर लई अब उतरन ना
मेरे भाग सुहाग
तुम्हीं से है, मैं तो तुम पे जोबेना लुटा बैठी, बस
लाज रखो मोरे
घूंघट की।

(इस कव्वाली में उर्दू के शब्द न होकर हिन्दी व ब्रजभाषा के शब्द है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि अलाउद्दीन के समय में हिन्दू व मुसलमानों का सम्पर्क एक दूसरे से बहुत था)

आविष्कर्त्ता के सन्दर्भ में- ऐसा माना जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी (1296 ई. से 1325 ई. शासनकाल) के सुप्रसिद्ध दरबारी संगीतज्ञ अमीर खुसरों ने ही कव्वाली का आविष्कार किया किन्तु आचार्य बृहस्पति ने अमीर खुसरो को कव्वाली का आविष्कर्ता स्वीकार नहीं किया। आ. वृहस्पति का कहना था कि चिश्ती सूफियों के आदि पुरूष ख्वाजा मोइद्दीन चिश्ती अजमेरी के शिष्य शेख हमीमुद्दीन नागोरी का प्रसिद्ध कव्वाल अमीर खुसरो के जन्म से कहीं पूर्व सुल्तान शमसुद्दीन इल्तुतमिश (शासनकाल 1210 ई. से 1235 ई.) के दरबार में पहले से विद्यमान था। आचार्य वृहस्पति जी ने एक पाकिस्तानी लेखक जनाब रशीद मलिक द्वारा लिखित पुस्तक 'हजरत अमीर खुसरो का इल्मे मूसिकी और दूसरी मकालत'' से लिये उदाहरण के अनुसार बताया कि - ''कव्वाली मूसिकी की सिन्फ (विधा या शैली) की हैसियत से हज़रत अमीर खुसरो को कव्वाली का आविष्कारक कहना ठीक नहीं किन्तु अमीर खुसरो

को यह श्रेय दिया गया है कि एक उच्च कोटि के गायक और अनन्य भक्त होने के साथ निजामुद्दीन औलिया के परम शिष्य होने के परिणामस्वरूप उन्होंने भक्ति रस से ओत-प्रोत कव्वाली को भारत में प्रचलित किया (इसी कारण कव्वाली शैली का नाम स्वतः ही इसके साथ जुड़ गया।)

कव्वाली गायन शैली के प्रमुख गायक-

कव्वाली के कई प्रसिद्ध घराने हुये, आज भी वे भारत में स्थान-स्थान पर अपनी अपनी विशिष्ट शैली के लिये उल्लेखनीय है। विख्यात प्यारू कव्वाल, अज़ीज प्यारू वारिस, जफर बदायूंनी, शंकर शम्भू, स्व. हबीब पेंटर, इमाम अहमद, जानी बाबू।

पाकिस्तान के गायक जैसे- साबरी बन्धु, बहादुद्दीन, स्व. नुसरत फतेह अली खाँ, कुतुबुद्दीन आदि ने भी कव्वाली गायन की शैली को चार चाँद लगाया है। शास्त्रीय संगीत के विख्यात ख्याल गायक स्व. तानरस खाँ, स्व. मुश्ताक हुसैन खाँ, स्व. उस्ताद हाफ़िज अली खाँ, स्व. नसीर खाँ, स्व. उमराव खाँ, ये प्रायः मज़ारो पर कव्वाली गाने में गर्व अनुभव करते थे।

प्रसिद्ध उस्ताद बड़े मुहम्मद खाँ कव्वाल बच्चे ही थे, जिनकी नकल हस्सू खाँ-हद्दू खाँ ने की, अतः ग्वालियर की ख्याल गायकी कव्वालों के बच्चों से प्रभावित है।

महिलाओं का योगदान-

आज के परिवर्तनशील समाज में महिलायें भी पुरूषों के समान हर क्षेत्र में बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही है। संगीत में कव्वाली क्षेत्र अछूता ना रहा।

मल्लिका-ए-तरन्नुम नूरजहाँ ऐसी प्रथम महिला थी जिन्होने सन् 1940 ई. में "जीनत" नामक हिन्दी फिल्म में केवल महिलाओं के दल के अगुआ के रूप में कव्वाली गाई थी। सन् 1954 ई. में शकीला बानू भोपाली भी दूसरी महिला कव्वाली गायिका के रूप में हिन्दी फिल्मी पर्दे पर उभरकर आयी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सक्सेना डॉ. (कु.) मधुबाला, ख्याल शैली का विकास
2. चौबे डॉ. सुशील, हमारा आधुनिक संगीत
3. संगीत (ख्याल अंक) जनवरी, फरवरी 1976 ई0
4. शर्मा अमिता, शास्त्रीय संगीत का विकास
5. सहगल डॉ. सुधा, प्रान्तीय संगीत विविध पक्ष
6. गर्ग लक्ष्मी नारायण, निबन्ध संगीत

राग और रूप

अंकिता गोस्वामी

निराकार और साकार की सापेक्षता एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका कोई ऐतिहासिक क्रम नहीं है। इसे अनादि और अनन्त समझना चाहिए। वेदों से लेकर अबतक ये दोनों अभिन्न बने चले आ रहे हैं। यद्यपि संगीत मूलतः एक अमूर्त कला है व सूक्ष्म अनुभूति द्वारा ही उसे जाना व समझा जा सकता है। राग संगीत कला का आधार है। विविध स्वर-विन्यास राग का रूप प्रस्फुटित करता है, किन्तु केवल स्वर सज्जा ही राग का आन्तरिक एवं बाह्य विकास पूर्ण नहीं कर सकती है, वह तो एक ढांचा है या पार्थिव अवयव मात्र का गठन करती है। भाव समृद्धिपूर्ण सुर तरंग ही उस शरीर में प्राण और रस का संचार करती है।

भारतीय संगीत का प्राण है राग। राग स्वरों के उपादान से गठित होते हुए भी वह स्वरों के बन्धन से चिर मुक्त है। स्वरों की रंजना शक्ति के स्पर्श से राग प्रीति और आनन्दानुभूति के स्पन्दन की सृष्टि करता है और वही स्पन्दन मनुष्य को प्रेरणा देता है और अपार्थिव जगत में ले जाती है। इसलिए संगीत भारतीय ही नहीं विश्व के शिल्पी दृष्टि के समक्ष श्रेष्ठ ललित कला है।

राग रूप का तीन दृष्टिकोणों से विश्लेषण किया जाता है-

1) राग स्वर सन्दर्भ का समावेश है और वही समावेश या गठन आरोहण-अवरोहण द्वारा रस धारा की सृष्टि करता है।
2) ई. 16वीं-17वीं शताब्दी के कवियों और शिल्पियों ने ध्यान मंत्र और चित्ररूप की रचना की एवं इन सब ध्यान और चित्ररूप ने मनुष्यों में जागरण और सौन्दर्य की अनुभूति का संचार किया।
3) राग स्वरों की सहायता से 'सुर' के रूप में आत्म प्रकाश करता है और प्रत्येक स्वर के अनुरणन से विचित्र रस और भाव प्रवाहित होता है एवं शिल्पियों और श्रोताओं के मन को प्रभावित और प्रदीप्त करता है।

भारतीय संगीत विशेष रूप से आध्यात्मिक के क्रोड़ में पला है। जिस प्रकार ईश्वर के आनन्दमय स्वरूप में मन समाहित करने के लिये मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार राग रस की अनुभूति के लिये राग ध्यानों के सहारे राग के देवमय रूपों को एक निश्चित रूप दिया गया। राग का वर्णित रूप ही ध्यान की प्रक्रिया, एकाग्रता के लिये आलंबन बन जाता है। हमारे संगीत में राग-रागिनियों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से देवी-देवताओं से जोड़ा गया है व काव्यमय भाषा में ध्यान और भावात्मक चित्र चित्रित किया गया है। यह निराकार भी है, साकार भी। कुछ मुख्य स्वर समूहों द्वारा साधना के पश्चात् जिस अद्भुत सरसता का बोध होता है, वह उस राग के मूर्त स्वरूप का आधार है।

राग में मनोविज्ञान का एक स्थान होता है, इसलिए राग को हम आंतर बाह्यावगाही पदार्थ कहते हैं, क्योंकि बाह्य जगत में मन अथवा अन्तःकरण में दोनों स्थलों पर ही हम उसका क्रिया चलभाव और गति अनुभव करते हैं। राग का ढांचा बाह्य जगत में

शोध छात्र, संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकट होता है किन्तु उसका संवेदन मन में होता है। स्वरों के आरोहण-अवरोहण से जब राग का रूप विकसित होता है तब कथा या शब्द का सम्भाव उसे अर्थवान बनाता है।

हमारे संगीतज्ञों ने राग के दो स्वरूपों को माना है-नादमय तथा भावमय अथवा देवतामय। राग के स्वरूप, चलन, वर्ज्यानुवर्ज्य, जाति आदि से राग के नादमय स्वरूप की सृष्टि होती है और शास्त्र में वर्णित रागों के भावात्मक ध्यान से भावमय अथवा देवतामय स्वरूप की रचना होती है। हमारे संगीतज्ञों के अनुसार प्रत्येक राग के पृथक-पृथक देवी-देवता है जो एक अलौकिक जगत में निवास करते हैं तथा रागों के शुद्ध ध्यान द्वारा आवाहन करने पर अवतीर्ण होते हैं। जिस प्रकार उपासना में मंत्र द्वारा देवता का आवाहन करते हैं उसी प्रकार राग के मान्य देवता का आवाहन उस राग के ध्यान द्वारा किया जाता है।

राग का देवमय स्वरूप उसकी प्रकृति का साकार रूप होता है और राग की प्रकृति एक विशिष्ट मनोभाव का प्रतीक है जिसकी व्यंजना उस राग विशेष द्वारा होती है अर्थात् राग की प्रकृति अथवा मनोभाव का मूर्तिमान होना ही उसका देवमय स्वरूप है। किसी भी राग की प्रकृति उसके स्वर स्वरूप पर आधारित होती है। स्वर विधान राग का शरीर है तो प्रकृति उसकी आत्मा और यही आत्मा राग के देवतामय स्वरूप का विधायक है। राग देवता का आवाहन करने के लिए कुछ अवलम्ब चाहिए इसलिए ध्यान का विधान किया गया। ध्यान के माध्यम से देवता निमन्त्रित किए जाते हैं। ध्यान का तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में वर्णित राग के देवता पर चित्त इस प्रकार केन्द्रित करना कि राग के नादमय स्वरूप पर उसका स्वरूप उतर जाये। इससे राग में शक्ति आती है और राग सजीव हो उठता है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि रागों की व्यवहारिक प्रस्तुति में रागों के ध्यान को आधार बनाया जाये तो इसकी रचनाओं में, स्वर संगतियों में उनका स्थान लिया जाये तो संभवतः रागों की प्रस्तुति और भी प्रभावशाली बन पड़े। यदि राग प्रस्तुतिकरण से पूर्वराग के दैवीय स्वरूप का ध्यान किया जाये तो प्रस्तुतिकरण में श्रीवृद्धि होगी, रागों का स्वरूप और अधिक सशक्त तथा प्रभावकारी हो सकेगा। संगीत में रागध्यान अथवा राग और उसके रूप के मूल में हमारी सुदृढ़ आध्यात्मिक चेतना है जिसके प्रभाव को वर्तमान समय में भी जाग्रत किया जा सकता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति संगीत : एक अध्ययन

अंकित पारिख

दक्षिण भारत के काकरवाड़ ग्राम के निवासी लक्ष्मण भट्ट तैलंग को काशी प्रवास काल में पुत्र रत्न 'वल्लभ' की प्राप्ति हुई, जो बाद में वल्लभाचार्य के नाम से ख्याति प्राप्त हुए। आचार्य वल्लभाचार्य ने 'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद' नामक ग्रन्थ में मर्यादा मार्ग, प्रवाह मार्ग और पुष्टि मार्ग का उल्लेख करते हुए पुष्टि मार्ग को सर्वश्रेष्ठ माना है। आचार्य ने विष्णु स्वामी के सिद्धान्त को स्वीकार तो किया परन्तु उनके विचार कुछ भिन्न थे। अतः मूलतः विष्णु स्वामी-सम्प्रदायाधीन होते हुए भी वल्लभाचार्य जी ने वैष्णव धर्म की एक नवीन विशिष्ट शाखा का प्रवर्त्तन किया जो 'पुष्टि सम्प्रदाय' से जाना जाता है। अतः पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय और कीर्तन संगीत परम्परा के उद्गम का श्रेय श्री वल्लभाचार्य को ही है। वल्लभाचार्य द्वारा संचालित इस सम्प्रदाय को 'वल्लभ सम्प्रदाय' की भी संज्ञा प्राप्त है।

पुष्टि की व्याख्या करते हुए श्री वल्लभाचार्य ने लिखा है–

''कृतं साध्यं साधनं ज्ञानभक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते ताभ्यां विहिताभ्याम् मुक्ति मर्यादा तद्रहितानामपि स्वरूप बलेन स्व प्रापणं पुष्टिरित्युच्यते।''

श्री कृष्ण के प्रति विशुद्ध प्रेम ही पुष्टिमार्गीय भक्ति है। श्री वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय भक्ति में संगीत को सर्वाधिक महत्व दिया गया। आचार्य ने कहा है–

''सेवकानां यथा लोके व्यवहार : प्रसिद्धयति।
तथा कार्य समप्यैंव सर्वेषां ब्रहमता ततः।।''

'भक्ति' शब्द भज् धातु में क्तिन् प्रत्यय जोड़कर बना है। 'भज्' धातु का अर्थ है सेवा करना और क्तिन् प्रत्यय का अर्थ है प्रेम। अर्थात् 'भक्ति' शब्द का अर्थ है प्रेमपूर्वक सेवा।

पुष्टिमार्गीय मंदिरों को 'हवेली' की संज्ञा प्राप्त है। 'इन मन्दिरों में अन्य वैष्णव-मन्दिरों की भाँति गुम्बज या शिखर नहीं होता। अतः इनमें गाये जाने वाले कीर्तन के लिए 'हवेली संगीत' संबोधन प्रचार में आया। ऐसी भी मान्यता है कि यवनों द्वारा मूर्तियों को खण्डित होने से बचाने के लिए भक्त-गण इनके विग्रह को जब गुजरात ले आए तब जिन स्थानों पर इनको रखा गया उनको 'मन्दिर' न कहकर 'हवेली' कहा गया, सम्भवतः इसलिए भी कि शत्रुओं की उन पर दृष्टि न पड़े। भक्तगण इन हवेलियों को प्रभु का निवास मानते हैं।

'हवेली संगीत' यह कोई अलग प्रकार का संगीत न होकर ध्रुपद शैली जैसा ही भारतीय संगीत का एक हिस्सा है। इसे 'विष्णु पद शैली' नाम से भी जाना जाता है, जिसमें कृष्ण-भक्ति-काव्य का ही प्रावधान है। ''अष्टसखाओं ने गायन-शैली के रूप में ध्रुवपद, जिसे सम्प्रदाय में 'विष्णुपद' कहा जाता है, को ही अपनाया। वार्त्ता साहित्य में स्थान-स्थान पर विष्णु पद शब्द का प्रयोग किया जाता है। सम्प्रदाय के साहित्य और संगीत के इतिहास के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि दरबारी गायकों द्वारा अपने आश्रयदाताओं का यशोगान ध्रुपद कहलाता था तथा धार्मिक सम्प्रदायों के भक्त-संगीतज्ञों की भक्ति रचनाओं को 'विष्णुपद' कहा जाता था।

शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

गायन विषय के अलावा विष्णुपद एवं ध्रुवपद में बहुत कुछ साम्य है। हवेली की पूजा सांगीतिक कीर्त्तन ही है। इसके पदों की भाषा ब्रजभाषा है। इसमें क्लिष्टता होती है। यह कीर्तन शैली ध्रुपद, धमार युक्त है। हवेली में प्रतिदिन गाए जाने वाले कीर्तन को सम्प्रदाय में राग सेवा की संज्ञा दी गई है। इस राग - सेवा के अन्तर्गत नित्य प्रातःकाल से रात्रि तक लीला के पद ही गाए जाते हैं। अष्टसखाओं ने श्री वल्लभाचार्य एवं गुसाँई श्री विट्ठलनाथ जी के उपदेशों तथा अपनी अनुभूति के आधार पर श्रीकृष्ण की लीला विषयक तथा भक्ति-परक पदों की रचना की। अष्टसखा प्रतिदिन प्रति झाँकी के समय नवीन पदों की रचना करते थे- ऐसा कहा जाता है। पदानुरूप भाव और समयानुकूल रागों का विशेष महत्व होता था। प्रतिदिन सेवा - अर्चना की आठ झाँकियाँ निकलती थीं। प्रत्येक झाँकी के साथ अष्टसखाओं द्वारा अनुकूल पदों का राग-रागिनियों में बद्ध गान का उल्लेख है।

हवेली में अष्टसखा के ही पद गाये जाते हैं। हवेली संगीत में रागों के कई ऐसे प्रकार पाये जाते हैं जो किसी उत्कृष्ट गायक-वादक को अनुपलब्ध होगा। रागों की सुन्दर एवं अद्‌भुत बन्दिशें हवेली में प्राप्त होती हैं। प्रत्येक ऋतु के अनुरूप रागों का गायन समय भी निर्धारित है। इस गायन शैली में संगीत के शुद्ध शास्त्रीय रूप का पालन किया गया है।

"हवेली संगीत" में भक्त एवं भगवान के भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति होती है। संगीत के अनन्य साधक अष्टसखाओं द्वारा रचित पदों में संगीत द्वारा श्रीकृष्ण की भक्ति अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। अष्ट सखाओं द्वारा रचित पदों की संख्या अनन्त है। यद्यपि आज अष्टसखा रचित पदों में रागों के स्वरों की स्पष्टता प्रतीत होती है, पुनरपि संगीत के साथ भक्ति का यह स्वरूप जन-मानस को आकर्षित अवश्य करता है। वल्लभ सम्प्रदाय की यह कीर्तन पद्धति उत्कृष्टता की चरम सीमा पर विराजमान है। तत्कालीन राग-सेवा (कीर्तन) में संगीत का जो स्वरूप रहा होगा वह अष्टसखा रचित पदों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार शास्त्रीय संगीत के प्रचार में हवेली संगीत महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि आधुनिक उत्तर - भारतीय संगीत के स्तम्भ ध्रुपद - धमार को 'हवेली - संगीत' ने ही प्रोत्साहित किया और विभिन्न रागों में निबद्ध अष्टसखा रहित असंख्य पद 'हवेली संगीत' की अमूल्य निधि है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा डॉ. सत्यभान, पुष्टिमार्गीय मंदिरों की संगीत परम्परा
2. तैलंग डॉ. मधुभट्ट, हिन्दुस्तानी संगीत में पखावज वादन वल्लभ सम्प्रदाय की देन
3. द्विवेदी (डॉ0) रमाकान्त, संगीत स्वरित
4. सक्सेना मधुबाला, ब्रज के देवालयों की संगीत परंपरा

सितार बाज पर अन्य वाद्यों की वादन शैली का प्रभाव

अंजली शर्मा

कला वह ज्योति है, जो आत्मा का परमात्मा के साथ संपर्क होने से उद्‌भूत होती है। मानव के प्रकृति में लीन हो जाने से ही कला की सृष्टि होती है। यह एक ऐसी शक्ति है, जो मानव के अंतर तक पहुँचती है। भावाभिभूत मानव ही नाद के जरिए अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। यह नाद उल्लास की अभिव्यक्ति हो सकता है अथवा गहरा दुःख भी प्रकट कर सकता है। इन अत्यन्त भावनात्मक क्षणों में नाद ही भावना प्रकट करने का एकमात्र साधन है। विषाद, हर्ष, दुःख, भय, प्रेम अथवा क्रोध के नादों से संगीत का जन्म होता है। मध्य युग से पूरे भारत में सितार वाद्य एक लोकप्रिय तत् वाद्य के रूप में प्रसिद्ध हुआ है।

सितार भारतीय वीणा परिवार का वाद्य है। ईरानी साज-सितार से भी सितार का भ्रम होता है। 12वीं शताब्दी में यह पूरे एशिया में लोकप्रिय हो गया था सितार शब्द पर्शिया भाषा से है। अमीर खुसरो को इसके भारतीय स्वरूप का अन्वेषक माना जाता है। 17वीं एवं 18वीं शताब्दी में भारतीय राज-दरबारों में रूद्रवीणा लोकप्रिय थी। यही आधुनिक भारतीय सितार का आदर्श है।

समय-समय पर सितार वादन शैलियों में अनेक परिवर्तन तथा परिवर्धन हुये हैं। इसके फलस्वरूप अनेक ऐसे वाद्य भी है जिनके वादन शैली का प्रभाव सितार वाद्य पर भी पड़ा।

सर्वविदित है कि तानसेन की मृत्यु के बाद उनके वंशज दो भागों में विभक्त हो गये जिन्हें बीनकार और रबाबिये के नाम से जाना जाने लगा। इन वादकों द्वारा 12 प्रकार की वादन क्रियाएँ जैसे-आलाप, जोड़ आलाप, झाला, ठोक झाला, गति, तोड़ा, लड़ी, गुथाव, लड़गुथाव, लड़ लपेट, कत्तर और तार परन आदि क्रियाएँ मानी गयी थीं।

उपरोक्त 12 प्रकार के वादन कौशल में से प्रथम नौ क्रियाओं को वीणा वादकों ने तथा शेष तीन क्रियायें लड़ लपेट, कत्तर और तारपरन को रबाब वादकों ने अपनाया अर्थात बीनकारों ने स्वर तथा रबाब वादकों ने ताल को प्रधानता दी। समयान्तर में वीणा वादकों ने उपरोक्त बारहों प्रकार की क्रियाओं में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर ली। फलस्वरूप वीणा अंग की वादन पद्धति का ही सितार वादन में अनुसरण हुआ।

आलाप, जोड़ आलाप एवं झाले आदि की क्रियायें वीणा का मौलिक रूप एवं सौन्दर्य है। उक्त तीनों प्रकार के बाज से ही यन्त्र संगीत मुख्यतः सितार वादन प्रणाली का उदय हुआ।

सितार का आलाप भाग सर्वप्रथम वीणा तत्पश्चात् सुर बहार के नियमों से सुसज्जित किया गया। वीणा वादन प्रणाली से सितार वादन के अधिक प्रभावित होने का मुख्य कारण यह है कि आलाप, जोड़ आलाप, गत वादन आदि क्रम रबाब वाद्य में प्राप्त नहीं था।

अतः वीणा अंग की वादन क्रिया का ही मुख्य प्रभाव सितार बाज पर पड़ा। तत्कालीन सितार वादकों ने अपने वादन में आलाप भाग को ध्रुवपद अंग से तथा बोल बांट के समस्त कार्य को बीन और रबाब अंग से प्रदर्शित किया। सितार वादन में आलाप, गति, तोड़ा, लड़-गुथाव में वीणा की वादन शैली का पूर्ण प्रभाव बना रहा तथा लड़-लपेट, कत्तर और

शोध छात्रा, वाद्य विभाग, संगीत व मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

तारपरन क्रियाओं का वादन रबाब वादन शैली के अनुसरण से सितार बाज में सम्मिलित किया गया। लड़ गुथाव के अंग के साथ छूट आदि का समन्वित विस्तार करके जिस क्रिया का वादन होता है उसे लड़-लपेट कहते हैं और लड़-लपेट का सितार में प्रयोग होना पूर्णतः रबाब वादन की देन हैं।

आज भी जोड़ क्रिया में जो सुनिर्दिष्ट छन्दबद्ध रूप रखते हुए लड़ी अंग तथा तार परन की सहायता से बोलों के छन्द बनाकर स्वर विस्तार किया जाता है वह वीणा और रबाब वाद्यों का ही अनुसरण है। सितार वादन में दाहिने हाथ का जितना भी काम है वह रबाब और वीणा वाद्य के अनुसार से ही किया जाता है तथा मिजराब के विभिन्न बोलों का प्रयोग रबाब के जवों की लौट पलट की ही देन है।

विशेष कर सितार के झाला अंग में वीणा के झाले, मिजराबों तथा रबाब व सुर सिंगार के जवों की लौट पलट का अनुसरण कर झाला वादन को नियमित प्रदान किया गया। सितार वादन में गत रचना का मुख्य आधार ध्रुवपद के बाद तारपरन माना गया है। तारपरन रबाब की मुख्य वादन क्रिया है। अतः बोध प्रधान गतकारी रबाब वाद्य की देन है। यह कहना अनुचित न होगा कि सितार का आलाप भाग ध्रुवपद अंग से तथा गत में बोल बांट का काम बीन और रबाब अंग से ही किया जाता है। सितार वादन पर वीणा और रबाब के अतिरिक्त सुर बहार, सुर श्रृंगार, सारंगी और दिलरूबा आदि की वादन शैलियों का भी प्रभाव पड़ा। सितार के आलाप भाग में बोल रहित क्रियाऐं जैसे सूत आदि सारंगी वाद्य की देन कही जा सकती है। जमजमा का वादन दिलरूबा वाद्य का ही अनुसरण है।

तत् वाद्यों के अतिरिक्त ताल वाद्यों की वादन क्रिया का भी सितार में अनुसरण किया गया। उदाहरणार्थ जोड़ अंग में क्रधान क्रधा तेटे आदि पखावज के बोलों की सहायता से छन्दों का निर्माण कर जोड़ का विस्तार किया जाता है। पखावज के बोलों से निर्मित इस छन्द बद्ध क्रिया को ही लड़ गुथाव की संज्ञा प्राप्त हुई थी। सितार वादन में प्रयुक्त तोड़ा के पश्चात् तिहाई बजाने की प्रथा का सूत्रपात तबला वादन की तिहाईयों के अनुसरण से हुआ। यह बात पूर्णतया स्पष्ट है कि सितार के बाज में विभिन्न नियमों और सौन्दर्य उपकरणों का समावेश कर इस वाद्य को विकसित किया गया था। आज सितार को वही स्थान प्राप्त है जो कल तन्त्री वाद्यों का प्रतिनिधि वाद्य वीणा को प्राप्त था।

वर्तमान में सितार भारतीय वाद्य संगीत की समस्त मूल्यवान अनुभूतियों को संजोए हुए भारतीय वाद्य जगत में मुकुट के रूप में अपना स्थान बना चुका है। आज इस वाद्य के अनुसरण से ही अन्य वाद्य जैसे- सारंगी, वायलिन, गिटार, शहनाई, बांसुरी आदि में गत, तोड़ा और झाला का वादन हो रहा है। उपरोक्त वाद्यों की अपनी स्वतंत्र वादन शैली भी है। परन्तु शहनाई और बांसुरी जैसे वाद्यों पर झाला बजाया जाना सितार की लोकप्रियता और इसकी वादन शैली की प्रसिद्धि का स्पष्ट प्रमाण है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. निगम रेखा, सितार की उत्पत्ति का विस्तृत विवेचन तथा सितार के बाज का विकास क्रम
2. सक्सेना सन्तोष, भारत में संगीत
3. भटनागर रजनी, सितार-वादन की शैलियाँ-

संगीत की उच्च शिक्षा व शिक्षण प्रणाली के बदलते आयाम

अंकिता मुखर्जी

भारतीय संस्कृति में संगीत और संगीत की शिक्षा दोनों को विशेष और सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। यह प्राचीन काल से चिर प्रवाहमान परम्परा है। समय-समय पर इस शिक्षण प्रणाली का बदलता स्वरूप हमें स्पष्ट दिखता रहा है। वैदिक काल से मध्य युग तक संगीत शिक्षा 'गुरूकुल पद्धति' द्वारा दी जाती रही है अनेक साहित्यिक प्रमाणों से विदित होता है कि इन प्रशिक्षण केन्द्रों में संगीत को प्रयोगात्मक शिक्षा के साथ-साथ शास्त्र के अध्ययन को भी आवश्यक माना जाता था। उस समय सब कुछ मौखिक परम्परा के द्वारा ही कठोर अनुशासन में अध्ययन अध्यापन था।

मध्य काल और आधुनिक काल में विदेशी आक्रमणों के कारण संगीत शिक्षा में कई उतार-चढ़ाव आए। इसी में घरानों की नींव पड़ी जिसके अन्तर्गत विभिन्न घरानों के कलाकार एवं उस्ताद अपने संगीत ज्ञान को केवल अपने परिवार के सदस्यों तक ही सीमित रखने लगे। तथा उस समय संगीत की शिक्षा घरानों के नियमों व रीतियों के अनुरूप दी जाने लगी।

अंग्रेजी शासन काल में राज्याश्रय प्राप्त न होने के कारण संगीत कला का पतन हुआ। तत्कालीन बदलती सामाजिक व राजनैतिक माँग के अनुसार बींसवी शताब्दी में संगीत शिक्षा पद्धति में युगान्तकारी परिवर्तन आया। संगीत को समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने तथा सम्मानजनक स्थिति प्रदान कर उसे जनसामान्य तक पहुँचाने हेतु पं. विष्णु नारायण भातखण्डे व पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने जगह-जगह संगीत विद्यालय, महाविद्यालय खोलें। जनसाधारण के जीवन को कलात्मक बनाना उसमें संगीत के प्रति प्रेम संचार करना और विद्यार्थियों को संगीत का ज्ञान देना ही इन महापुरूषों के जीवन का मुख्य उद्देश्य बन गया। संगीत को यथाविधि एवं व्यवस्थित बनाने के लिए संगीत महाविद्यालयों के लिए पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकें स्वरलिपि आदि तैयार की गई तथा परीक्षा और उसके उपरान्त उपाधि देने का प्रावधान भी रखा गया। जिससे संगीत शिक्षण का एक निश्चित स्वरूप स्थापित हो सके।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संगीत शिक्षण का तीव्र गति से विकास हुआ है और साथ ही संगीत के प्रचार को भी अत्यन्त प्रश्रय मिला है। संगीत के संस्थागत शिक्षण के साथ-साथ विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर व शोधात्मक स्तर पर संगीत शिक्षण तथा आकाशवाणी व दूरदर्शन के साथ-साथ चलचित्र संगीत के माध्यम से तो संगीत का विकास हुआ ही है परन्तु अनेकानेक प्रशासकीय संस्थानों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक समूहों अथवा वैयक्तिक रूप से संगीतज्ञों को अन्य देशों में भेजा जाना उन्हे पुरस्कृत किया जाना आदि पूर्णतः संगीत के शैक्षणिक तथा लोकप्रियता के पक्ष को सुदृढ़ किया है। स्थूल रूप में शिक्षा व लोकप्रियता के पृथक-पृथक वर्ग दिखाई देते हैं परन्तु विचार किया जाए तो यह दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं।

शोध छात्रा, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संगीत के विशेषज्ञों ने अपने अथक प्रयासों से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के लिए उच्चस्तरीय संगीत-शिक्षण की विस्तृत योजना तैयार की। एम. ए., एम.फिल., एवं पी.एच-डी. के लिए प्रयोगात्मक और शास्त्रीय पक्ष दोनों की प्राथमिकता को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम तैयार किए गए। ये पाठ्यक्रम एक निश्चित अवधि में पूरे किये जाएँ ऐसा विधान रखा गया और शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् उक्त अलग-अलग स्तर की डिग्रियाँ देने का प्रावधान बनाया गया। संगीत शिक्षण का स्तर ऊँचा बनाए रखने के लिए पुस्तकालय स्थापित किए गए। संगीत संबंधी विचार गोष्ठियों एवं संगीत सम्मेलनों के आयोजन, संगीत संबंधी प्राचीन पांडुलिपियों के मुद्रण तथा सांगीतिक रिकॉर्डों के निर्माण जैसे उच्चस्तरीय कार्यो से संगीत शिक्षण को सार्थक बनाने में संगीत नाटक अकादमी का सहयोग प्राप्त हुआ। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा संगीत विभागों को उचित धनराशि एवं छात्रों के लिए भी वित्तीय सहायता, संगीत गोष्ठियों एवं संगीत कार्यशालाओं के आयोजन के लिए विशेष अनुदान, विजिटिंग प्रोफेसर के लिए अलग से धनराशि आदि के द्वारा उच्चस्तरीय संगीत शिक्षण की नींव रखी गई।

वर्तमान में वैसे तो उच्च शिक्षा जगत में सभी विषयों का स्तर गिरा है परन्तु संगीत शिक्षा के विषय में प्रदर्शन कला होने के नाते कुछ अधिक ही दिखाई दे रहा है। स्नातक स्तर पर संगीत विषय लेकर आने वाले अधिकांश छात्र-छात्राओं को संगीत विषय का जरा सा भी ज्ञान न होना संगीत विषय लेने वालों का चयन न होना, स्वर परीक्षण न होना, अनियमित अभ्यास, पाठ्यक्रम का थोड़ा सा भाग तैयार कर के परीक्षा देना आदि कारणों से संगीत के उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में कमी आई है। जबकि महाविद्यालयों में प्रवेश लेने से पूर्व छात्र को स्वर, ताल व कई रागों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। प्रायः संगीत के विद्यार्थी उपाधियाँ प्राप्त करके भी कलाकारिता और गुणवत्ता के क्षेत्र में समर्थ नहीं हो पाते अथवा बहुत कम हो पाते हैं।

पहला कारण तो सामूहिक रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था का होना ही है। प्रायः 50 से 55 मिनट में 22 से 30 विद्यार्थियों को एक साथ क्रियात्मक संगीत की शिक्षा दी जाती है। विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग के आदेशानुसार अन्य विषयों की तरह संगीत में भी शिक्षक और विद्यार्थी का अनुपात 1:3 ही होना चाहिए। किन्तु ऐसी स्थिति में शिक्षक एवं विद्यार्थी में व्यक्तिगत संपर्क, जो कि संगीत के क्षेत्र में अत्यन्त आवश्यक है की सम्भावना ही नहीं रह जाती है। शिक्षक विद्यार्थी में संगीतात्मक गुणों का विकास नहीं करा पाता है, क्योंकि वह तो सीना-ब-सीना तालीम से ही सम्भव है। इस संदर्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार कैमिस्ट्री, फिजिक्स आदि वैज्ञानिक विषयों में प्रायोगिक कक्षाओं की कालावधि करीब दो से तीन घंटे की होती है, उसी प्रकार संगीत में भी कालावधि 50-55 मिनट से बढ़ाकर कम से कम दो घंटे कर देनी चाहिए।

इसी तरह से कुछ विद्यार्थियों का वर्ग ऐसा भी है जो ख्याल, ध्रुपद आदि की अपेक्षा ठुमरी, दादरा, कजरी, चैती आदि अच्छा गा लेते है, लेकिन जिन्हे इन सबका समुचित शिक्षण लेने का अवसर नहीं मिलता। अनेक विद्यार्थी ऐसे भी है जिनको शास्त्र में तो विशेष रूचि नहीं है, किन्तु क्रियात्मक संगीत से पूरा लगाव है। उनके लिए संगीत संबंधी कुछ ऐसे व्यावसायिक पाठ्यक्रम (Vocational Courses) तैयार किए जाने चाहिए जिन्हे पूरा कर वे अपनी रूचि के अनुरूप किसी व्यवसाय का चयन कर सकें।

आजकल अधिकांश संगीत सीखने वाले विद्यार्थी संगीत शिक्षण संस्थाओं से ही जुड़े हैं अतः हम सभी का यह दायित्व हो जाता है कि संगीत की उच्च शिक्षा के सामने आ रही विभिन्न चुनौतियों, उसकी व्यवहारिक कठिनाइयों, बदलते संदर्भो में उसकी सार्थकता और प्रासंगिकता को बनाए रखने के उद्देश्य से विभिन्न पहलुओं का अध्ययन और विश्लेषण करें तथा समाधान ढूँढ़ने का प्रयास करें।

संगीत को उच्च शिक्षा में गुणवत्ता लाने के लिए अनेक प्रयास किये जा सकते है। संगीत कला का विद्यार्थी भी एक सामाजिक प्राणी है और जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ति हेतु उसे भी किसी व्यवसाय को अपनाने को जरूरत होती है। अतः यह स्वाभाविक है कि लम्बी अवधि तक संगीत कला के शिक्षण के पश्चात् वह संगीत से जुड़े किसी व्यवसाय

को अपनाना चाहे और वह भी ऐसा व्यवसाय, जिसमें अर्थोपाजन के साथ-साथ कार्य सन्तुष्टि (Job Satisfaction) भी प्राप्त हो और समाज में सम्मान भी। इन विद्यार्थियों के लिए सांगीतिक व्यवसाय के अनेक विकल्प हो सकते हैं - जैसे-पार्श्वगायन वादन, संगीत निर्देशन, ऑडियो, वीडियो व सी0डी. निर्माण की तकनीकी, संगीत चिकित्सा, संगीत पत्रकारिता, संगीत विपणन (Music Marketing), वाद्ययंत्रों का निर्माण व मरम्मत, वैबसाइट-क्रिएशन, पुस्तक प्रकाशन व उनका विक्रय आदि।

संगीत शिक्षा अब रोजगार मूलक होनी चाहिए। जो विद्यार्थी कलाकार होना चाहता है उसका पाठ्यक्रम व शिक्षण व्यवस्था भिन्न होना चाहिए तथा महाविद्यालयों विश्वविद्यालयों में एक सा पाठ्यक्रम मान्य होना चाहिए। उच्च शिक्षा संस्थानों में लगभग एक जैसा पाठ्यक्रम लाने के स्थान पर स्नातकोत्तर तथा उसके बाद के स्तरों पर ठुमरी, ख्याल, टप्पा, ध्रुपद आदि की शिक्षा अलग-अलग महाविद्यालयों में उन विषयों के विशेषज्ञों द्वारा दी जानी चाहिए तभी गुणवत्ता आ सकेगी। पाठ्यक्रम में राग संख्या की जगह प्रस्तुतिकरण के स्तर को बढ़ाने से कुछ सीमा तक अच्छे परिणाम मिल सकते हैं। प्रांतीय लोक संगीत, ठुमरी गायन, ध्रुपद-धमार आदि विभिन्न विधाओं को यदि संगीत की उच्च शिक्षण में सम्मिलित करेंगे तो संगीत के नये आयाम खुलेंगे, जिससे विद्यार्थी वर्ग को अत्यधिक लाभ होगा। इसके अतिरिक्त नये पदों का निर्माण होगा, जिससे उस क्षेत्र में प्राप्त बेरोजगारी का भी हल निकलेगा।

संगीत की उच्च शिक्षण विधि में प्रायोगिक तथा शास्त्र दोनों ही पक्षों का अध्ययन अध्यापन उचित ढंग से कराना आवश्यक है। सभी उच्च शिक्षण संस्थाओं में सांस्कृतिक गतिविधियों के केन्द्र भी होने चाहिए, जिसमें छात्र-छात्राओं की भागीदारी हो। इससे उनमें आत्मविश्वास बढ़ेगा और उनकी प्रतिभा निखरेगीं। आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक उपकरण जैसे टी.वी., टेपरिकॉर्डर, ऑडियो-वीडियों कैसेट, सी. डी. आदि की सहायता से भी उच्च शिक्षण संस्थानों की गुणवत्ता में सुधार लाया जा सकता है।

वर्तमान समय में जब संगीत की उच्च शिक्षा को अन्य विषयों के समान ही मान्यता प्राप्त है, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसके क्रियात्मक एवं रचनात्मक पक्ष की सीमा को ध्यान में रखकर यदि प्राचीन वैयक्तिक शिक्षण और आधुनिक सामूहिक शिक्षण दोनों युगों के श्रेष्ठ तत्व उपलब्ध कर समन्वित किए जायें तो व्यावहारिक दृष्टि से गुणवत्ता के साथ यह हमारी परम्परा को समृद्ध करेंगे।

बनारस घराने की सुप्रसिद्ध गायिकाऐं : गिरिजा देवी एवं सिद्धेश्वरी देवी

आरती वाही

गिरिजा देवी

काशी नगरी को प्राचीन काल से ही धर्म तथा संस्कृति का उद्गम स्थान होने का गौरव प्राप्त हुआ है। इस पावन नगरी ने जहाँ अनेक प्रकाण्ड विद्वानों तथा धर्म-प्रर्वतकों को जन्म दिया, वही उपनी कोख से समय-समय पर अनेक संगीत रत्नों को भी पैदा किया है। श्रीमती गिरिजा देवी जी की गणना ऐसे ही कला रत्नों में की जा सकती है। सुरीली सुमधुर और शुद्ध घरानेदार गायिकाओं में वाराणसी की गिरिजा देवी जी अपना शीर्ष स्थान रखती है। जो लोग भारतीय आकाशवाणी केन्द्रों से प्रसारित होने वाले शास्त्रीय संगीत को सुनने के प्रेमी है वे इनकी स्वरमाधुरी के आकर्षण से भली-भाँति परिचित होंगे। गिरिजा देवी का जन्म 1929 ई. में हुआ। इनके पिता स्व. रामदास राय संगीत कला के अनन्य प्रेमी थे। गिरिजा देवी अपने शब्दों में कहती है कि "पिताजी की बड़ी इच्छा थी कि उनके बच्चे गाना-बजाना सीखे। किन्तु मेरे अलावा किसी भी भाई-बहन में गायन के प्रति रूझान नहीं था। और 5 साल की उम्र में मैंने गायक और सारंगी बादक पण्डित सरजू प्रसाद मिश्र से संगीत सीखना प्रारम्भ किया और लगभग 15 साल की उम्र तक पं. सरजू महाराज मिश्र जी ने मुझे संगीत की शिक्षा दी।" 16 वर्ष की आयु में ही गिरिजा देवी जी का विवाह हो गया और 2 वर्षों तक गाना बजाना बन्द रहा। क्योंकि उन्हें अपनी माँ और दादी माँ के विरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि ये परम्परागत रूप से माना जाता था कि कोई भी उच्च वर्ग की स्त्री को सार्वजनिक रूप से प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। गिरिजा देवी जी को दूसरो के लिए निजी तौर पर प्रदर्शन करना पसन्द नहीं था। लेकिन 1951 ई. में उन्होंने बिहार में अपना पहला सार्वजनिक संगीत कार्यक्रम दिया। ये कार्यक्रम आशा से अधिक सफल हुआ और यहीं से इनकी ख्याति विद्युत गति से प्रस्फुटित हो उठी।

गिरिजा देवी जी की गायिकी सेनिया घराने की बताई जाती है। ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि की गायकी के अतिरिक्त पूर्वी लोकगीत, भजन, होरी, कजरी, दादरा और काव्य संगीत के गायन में भी, निष्णात् हैं। लेकिन विशेष रूप से ठुमरी शैली का रंग बेजोड़ है। ऐसा नहीं है कि गिरिजा देवी जी के आगमन से पहले ठुमरी गायकों की कमी थी लेकिन उनमें से कोई भी दर्शक दिल की सीमा तक नहीं पहुँच सका। लेकिन गिरिजा देवी जी ऐसा करने में सफल हुई।

भारत वर्ष के लगभग सभी प्रमुख केन्द्रों ने आपको गायन प्रदर्शन के लिये आमंत्रित किया। और सभी केन्द्रों में आपके सफल कार्यक्रम सम्पन्न हुये। गिरिजा देवी जी अब तक सफलता पूर्वक संगीत-सम्मेलनों को अपनी स्वरलहरियों से नवजीवन प्रदान करती आ रही है। दिल्ली रेडियो से प्रसारित होने वाले राष्ट्रीय कार्यक्रम में भी आपने कई बार गायन प्रस्तुत किया है।

गिरिजा देवी जी को भारत सरकार ने 1972 ई. में पद्यश्री के अलंकरण से 1977 ई. में उ.प्र. संगीत नाटक अकादमी ने पुरस्कृत किया। 1978 ई. में

शोध छात्र, संगीतशास्त्र विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

राष्ट्रीय संगीत नाटक अकादमी अवार्ड, कानपुर से मोतीलाल नेहरू अवार्ड, ग्वालियर से '"संगीत साम्राजी' उपाधि प्राप्त हुई। पश्चिम बंगाल में "संगीत श्यामला" पुरस्कार 1989 ई. में भारत सरकार की ओर से "पद्मभूषण" अलंकार प्राप्त हुआ। सभी राज्यों के संगीत अकादमियों द्वारा और प्रयाग संगीत समिति इलाहाबाद द्वारा "संगीत शिरोमणि" प्रतिष्ठित शीर्षक के साथ सम्मानित किया गया है। आईटीसी संगीत रिसर्च के एक संकाय सदस्य के रूप आपने काम किया।

भारत के कई अँचलों में कार्यक्रम पेश करने के अलावा उन्हें 1969 ई. में रूस, 1970 ई. में लन्दन, 1987 ई. में अमेरिका, कनाडा, मैनचेस्टर आदि स्थानों का भ्रमण करके अपने सुमधुर गायन से वहाँ के श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किया।

गिरिजा देवी जी अपनी संगीत सफलता का श्रेय दर्शकों को मानती है। मोहक और गम्भीर आलाप, तैयार ताने तथा सच्चा लगाव आपकी साधना के परिचायक हैं। अतः गिरिजा देवी जी को संगीत की मूर्तिमान देवी कहा जाये तो अल्पयुक्ति नहीं होगी।

सिद्धेश्वरी देवी

सिद्धेश्वरी देवी का जन्म (1907 ई.) वाराणसी में हुआ। श्री अमृत लाल नागर की बहुचर्चित पुस्तक "ये कोठे वालियाँ" में सिद्धेश्वरी देवी जी ने अपनी वंश परम्परा के सम्बन्ध में बताया है कि "सौ डेढ़ सौ पूर्व हमारी पुरखिनों में रती बाई ने वाराणसी में बहुत यश अर्जित किया था। बाद में उनके यश की उत्तराधिकारिणी उनकी भतीजी मैनाबाई हुई। मैनाबाई के सम्बन्ध मे वाराणसी में अनेक कथायें प्रचलित हैं। कहा जाता था कि जिस महफिल में मैना न हो, वो महफिल सूनी।

मैंनाबाई की दो पुत्रियाँ थी। राजेश्वरी और चन्दा सिद्धेश्वरी देवी चन्दा बाई की पुत्री थी। बचपन में ही माता (चन्दाबाई) तथा पिता (श्याम जी) की मृत्यु हो गई। फलतः इनका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था राजेश्वरी देवी ने की। वाराणसी की प्रख्यात गायिकाओं में राजेश्वरी देवी का भी नाम है। वह उस समय के काशी नरेश की दरबारी गायिका भी थीं। सिद्धेश्वरी जी की अपनी मौसी से (राजेश्वरी देवी) पटरी नहीं बैठी। राजेश्वरी ने सिद्धेश्वरी को अपने घर से निकाल दिया। उस समय सिद्धेश्वरी के शरीर पर जो कपड़े थे, वही उनकी सम्पत्ति थी। लेकिन जल्दी ही उनकी कला के प्रेमियों ने उनके लिये सब तरह की व्यवस्था कर दी। सिद्धेश्वरी देवी अपने शब्दों में कहती है कि वे दिन मैंने बड़े कष्ट से बितायें सिद्धेश्वरी देवी की सबसे बड़ी विशेषता ये थी कि मुसीबत के दिनों में भी नहीं घबरायी, अपने को अपने ही बलबूते बनाया। अपनी मेहनत और अपनी कला से अपने आप को सवांरा। सिद्धेश्वरी जी ने अपने समय के प्रसिद्ध गायक उस्ताद सियाजी से संगीत-शिक्षा प्राप्त की। ठुमरी, टप्पा, तराना, दादरा, पूर्वी होली, चैती कजरी आदि बनारसी अंग की मूल शिक्षा सियाजी से ही प्राप्त की। लाहौर के इनायत खाँ से भी कुछ समय प्रशिक्षण प्राप्त किया। लेकिन सिद्धेश्वरी को सिद्धेश्वरी देवी जी बनाने में वाराणसी के अपने समय के प्रसिद्ध गायक श्री बड़े रामदास जी का सर्वाधिक योगदान रहा। यद्यपि बड़े रामदास जी से शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व ही सिद्धेश्वरी जी अखिल भारतीय सिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। लेकिन ये अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करती थी कि बड़े रामदास जी ने ही मेरी प्रतिभा और कला का परिमार्जन किया। फलतः ये बनारसी अंग को अपने समय की प्रतिनिधि कलाकार मानी जाती थी। जिस युग में फिल्मों में "प्लेबैक" शुरू नहीं हुआ था। उस समय गानेवाली अभिनेत्रियों की खोज की जाती थीं इसी खोज के कारण सिद्धेश्वरी जी भी बनारस से मुम्बई पहुँच गई और वहाँ की ऊषा सिनेटोन फिल्म कम्पनी की कुछ फिल्मों में अभिनय भी किया। पश्चिम में लिखा गया है" ऊषा सिनेटोन की अभिनेत्री मिस सिद्धेश्वरी देवी", जो बनारस की रहने वाली और गायिका है।

सिद्धेश्वरी देवी जी ने अपने समय में भारत के प्रायः सभी रजवाड़ो और नगरों में होने वाली बड़ी-बड़ी महफिलों में उस समय की जानी-मानी गायिकाओं और गायक के बीच गाया था और अपनी विशेष स्थिति बनाये रखी। सिद्धेश्वरी देवी के सम्बन्ध में यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि

बनारसी अंग की ठुमरी, होली, चैती, कजरी आदि गाने वाली अब दूसरी कोई गायिका नहीं है। जिसमें सिद्धेश्वरी देवी जैसी अपनी विशिष्टता और प्रभाव हो।

यह सर्वमान्य सत्य है कि ख्याल गाने में जैसी "दमकशी" सिद्धेश्वरी देवी में थी। वैसी केवल केसरबाई केरकर में ही थी अन्यथा किसी में नहीं सिद्धेश्वरी देवी की गायकी शुद्ध बनारसी थी। ठुमरी जिस लोच और सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करती थी वह किसी दूसरी गायिका के लिये संभव नहीं हो पाया।

बोल - बनावट बनारसी अंग की ठुमरी की विशेषता मानी जाती है। सिद्धेश्वरी देवी का बोल-बनावट और तान पलटे का काम बेजोड़ था। एक ही बोल को वह दस ढंग से प्रस्तुत करती थी। ठुमरी में वह स्वर को 3 सप्तक तक ऊँचा उठाकर मन्द्र तक ले आती थी। इस प्रकार सिद्धेश्वरी चारों पट की गायिका थी। ध्रुपद-धमार भी गाती थीं। लेकिन विशिष्टता केवल बनारसी अंग की ठुमरी, पूर्वी होली, चैती, कजरी और भजन आदि में प्राप्त थी। यह उनकी अपनी विशिष्टता थी कि ख्याल, दादरा और शास्त्रीय संगीत पर भी उनका अधिकार था।

सिद्धेश्वरी जी की विशेषता यह थी कि जिन लोगों ने उनकी थोड़ी सी सहायता की उनके प्रति वह आजीवन कृतज्ञ रही। और समय के बदलाव के अनुसार अपने को बदलती रही। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय जब वेश्यावृत्ति विरोधी लहर चली सिद्धेश्वरी बाई भी 'कोठेवाली" से "घर गृहस्थ" बन गई। वेश्या बाजार में अलग हटकर कबीरचौरा में अपना मकान बनवाकर रहने लगी। मिलिट्री में कार्यरत एक पंजाबी ब्राह्मण से "सिविल मैरिज" कर लिया। अपनी बेटियों को संगीत-शिक्षा के साथ ही उन्होंनें विश्वविद्यालय कि शिक्षा भी दिलाई। अन्ततः सिद्धेश्वरी देवी वाराणसी का पूर्णतः परित्याग कर दिल्ली-स्थित "भारतीय कला केन्द्र" में उनको ठुमरी की शिक्षिका के रूप में नियुक्त किया गया। यही से उनके जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। "संगीत नाटक आकादमी" ने आपको "फैलोशिप" प्रदान की। सन् 1966 ई. में भारत सरकार ने पद्यमश्री अलंकर से अलंकृत किया। सन् 1973 ई. में कलकत्ता स्थित "रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय" ने डी.लिट्. की उपाधि का विशिष्ट अलंकार प्रदान किया। भारतीय संगीतज्ञों में कुछ गिने-गिनाए नाम ही है। जिनको "राष्ट्रीय प्रोफेसर" होने का सम्मान प्राप्त हुआ है। इनमें विश्व-प्रसिद्ध नर्तक उदयशंकर, भरतनाट्यम की प्रसिद्ध आचार्य बाल सरस्वती आदि के साथ ही सिद्धेश्वरी देवी का भी नाम है।

भारतीय संगीत के तन्त्री वाद्यों की अवतारणा

गरिमा गुप्ता

भारत में संगीत परम्परा अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इसका उद्गम वेदों से माना जाता है। सर्वप्रथम यज्ञादि के अवसर पर सामगान की प्रथा थी। विभिन्न धर्मों में संगीत को लेकर भिन्न-भिन्न कथाऐं प्रचलित है। धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार संगीत की उत्पत्ति वेदों के निर्माता ब्रह्मा जी द्वारा हुयी। ब्रह्मा जी ने यह कला (संगीत) शिव जी, शिव जी के द्वारा देवी सरस्वती जी तथा सरस्वती जी से नारद जी को प्राप्त हुयी। धीरे-धीरे धार्मिक परिधि से निकलकर संगीत ने मुक्त वातावरण में प्रवेश किया। गीत के साथ वाद्यों के प्रयोग का प्रचलन हुआ तो नृत्य का भी विकास हुआ और अंत में नाट्य भी उसमें आ मिला। पं. शारंगदेव ने संगीत 'शब्द' की व्याख्या निम्नवत् की है-

'गीतं वाद्यं तथा नृतं त्रयं संगीत मुच्यते।'

-संगीत रत्नाकर

अतएव गीत, वाद्य तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का सामूहिक नाम संगीत है। अर्थात् ये तीनों कलायें संगीत के अन्तर्गत मानी जाती है। उपरोक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि तीनों सांगीतिक कलाओं का मूल आधार स्वर व लय है जो नाद एवं गति के परिष्कृत रूप है। 'संगीतात्मक नाद एवं गति को प्रकट करने वाले उपकरण को 'वाद्य' कहा जाता है।' भारतीय संगीत में वाद्यों को तत्, अवनद्ध, धन और सुषिर इन चार वर्गों में विभाजित किया गया है। इन चारों प्रकार वाद्यों के सम्बन्ध में कहा गया है–

ततं वाद्यतु देवानां गंधर्वाणां च सौषिरम
आवनद्यं राक्षसानांतु किन्नराजां धनं विदुः।
निजावतारे गोविन्दः सर्व भावेनानयत क्षितौ।।

अर्थात् तत् वाद्य देवताओं से, सुषिर वाद्य गाँधर्वों से, अवनद्ध वाद्य राक्षसों से तथा घनवाद्य किन्नरों से सम्बन्धित है। शास्त्रीय संगीत के परिप्रेक्ष्य में उत्कृष्ट अभिव्यंजना का जितना अधिक विस्तार तंत्र वाद्य संगीत में सम्भव है उतना अन्य वाद्यों में नहीं। वेदों में सामवेद संगीत का वेद माना गया है। वैदिक काल में यज्ञादि कार्य के लिये सामगान की परम्परा रही है। सामगान में वाण नामक तन्तु वाद्य व वंश (वेणु) का वर्णन प्राप्त होता है। स्वर वाद्य में विशेषतः तन्तु वाद्य का प्रयोग गीतों के स्वर की संगति के लिये होता है। 'हिरण्यकेशी सूत्र' में वैदिक युग के तन्तु वाद्यों के नाम प्राप्त होते हैं जो निम्नोद्धत है- ताल्लुक वीणा, काण्ड वीणा, पिच्छोरा वीणा, अलाबु वीणा इत्यादि। ऋग्वेद में सभी वीणाओं को 'अघाटी' कहा गया है। 'शांखायन श्रौत सूत' में 'शत तन्त्री' वीणा का उल्लेख प्राप्त होता है। वैदिक एवं ब्राह्मण काल में इसे 'वाण' कहा गया है। पुराण काल के ग्रन्थों में वाल्मीकि रामायण का विशेष स्थान है। रामायण में विपंची जैसी प्राचीनतम वीणाओं की चर्चा मिलती है।

तन्त्री वाद्यों के रूपों एवं वादन विधि की विस्तृत व्याख्या सर्वप्रथम भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त होती है। प्राचीन काल की उन सम्बन्ध प्रमुख वीणाओं के स्वरूपों का विवरण दिया जा रहा है जो निम्न है-

एक तन्त्री

यह समस्त वीणाओं की जननी है। यह एक तार से युक्त होती है एवं इसका वादन ब्रह्मा जी द्वारा होता है। इस कारण इसे 'ब्रह्मवीणा' भी कहा जाता है। इसे अन्य नामों से भी पुकारा जाता है- ब्राह्मी

शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वीणा, ब्रह्म वीणा, एक तन्त्री सरस्वती वीणा एवं प्राण वीणा आदि।

कच्छपी वीणा

इसके तुम्बे का आकार कछुवे जैसे होने के कारण इसे 'कच्छपी वीणा कहा जाता है। महर्षि भरत ने इसे 'प्रत्यंग वाद्य' बताया है।

किन्नरी वीणा

जो स्थान बिना परदों वाली वीणाओं में एक तन्त्री को प्राप्त है वह स्थान परदों वाली वीणा में 'किन्नरी वीणा' का है।

मत्तकोकिला

मत्तकोकिला का उल्लेख सर्वप्रथम 'संगीत रत्नाकर' में प्राप्त होता है। शब्दार्थ से स्पष्ट हो जाता है कि मत्तकोकिला की आवाज कोयल के समान मधुर रही होगी। इसका वादन 'नारद जी' द्वारा होता था। उपरोक्त वीणाओं के अलावा चित्रा वीणा, तुम्बरू वीणा, तंजौरी वीणा, प्रभाती वीणा एवं परिवादिनी वीणा इत्यादि वीणाओं के नाम प्राचीन काल में प्राप्त होते हैं। वैदिक युग के पश्चात् जिन तन्त्री वाद्यों का विकास हुआ उसमें 'विपंची वीणा' का नाम मुख्य है।

विपंची वीणा

नौ तन्त्रियों से मुक्त विपंची वीणा की तन्त्रियों में क्रमशः षड्ज, रिषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद की स्थापना की जाती है।

विपंच्याँ नवतन्त्रीषु स्वराः सप्त तथा परो।
काकल्यन्तर संज्ञौ च द्वौ स्वराः विस्मयानि च।।"

-नान्यदेव भरत-भाष्य (पाण्डुलिपि)

महर्षि भरत ने विपंची को अंग अर्थात् प्रमुखी वीणाओं में माना है। पं. शारंगदेव के अनुसार इसका वादन उँगलियों अथवा कोण से होता था।

मध्यकाल में मुसलमानों का दृढ़ साम्राज्य बन जाने के कारण शास्त्रीय संगीत एवं कला प्रभावित हुयी जिस कारण से मुस्लिम बादशाहों ने वीणा को 'बीन' कहना आरम्भ कर दिया साथ जी उत्तर भारत के वीणा वादकों को उनके द्वारा 'बीनकार' के नाम से सम्बोधित किया गया। मध्यकाल से 19वीं शताब्दी में प्रचलित तत् वाद्य एवं उनका वाद्य रूप निम्नोद्धत है-

रावणहस्त वीणा

इस वीणा का उल्लेख संगीत मकरन्द, संगीत सुधा, संगीत परिजात जैसे-कुछ ग्रन्थों में हुआ है। कुछ लोग इसे 'रावणास्त्र वीणा' के नाम से भी चर्चित करते हैं। इसका वादन गज द्वारा होता है। श्रीलंका एवं राजस्थान में इस वीणा का चर्छचत रूप पाया जाता है। वर्तमान समय में रावणास्त्र वीणा के परिष्कृत रूप की संज्ञा स्तर मण्डल एवं कानून को प्रदान की गयी है।

रूद्रवीणा

रूद्रवीणा किन्नरी वीणा का परिष्कृत रूप है। दोनों वीणाओं का मौलिक अन्तर सारिकाओं की संख्या का है। सेनिया घराने में बजायी जाने वाली सरस्वती वीणा एवं रूद्रवीणा में कुछ भी अन्तर पाया जाता है।

विचित्र वीणा

प्राचीन काल में सर्व जनों द्वारा प्रचलित यह वीणा मध्यकाल में विलुप्त होने के पश्चात् वर्तमान काल में द्रष्टव्य होती है। इसका वादन बा से होने के कारण इसे 'बा बीन' भी कहा जाता है।

सुरबहार

यह एक बड़ा सितार है। इसका आकार कच्छपी वीणा से यह कुछ समरूपता रखता है। तुम्बा कच्छपी वीणा के समान्तर है। सुरबहार में मुख्य रूप से आलाप एवं जोड़ झाले का वादन किया जाता है।

सितार

सर्वप्रसिद्ध, परम्परागत सर्वगुण सम्पन्न तत् वाद्य सितार को 18वीं शताब्दी में वही स्थान प्राप्त हुआ जो कि 8वीं शताब्दी में वीणा को प्राप्त था। पहले सितार में तीन तारों का प्रयोग हुआ फिर इनकी

संख्या पाँच से सात तक पहुंची। वर्तमान समय में सितार में मुख्य रूप से 7 मुख्य तारों का प्रयोग होता है। सारिका युक्त तथा वादन में सुरबहार एवं रूद्रवीणा से कम जटिल होने के कारण कई वादकों ने इसे अपनाया। फलस्वरूप अन्य वाद्यों की अपेक्षा यह और अधिक प्रचलित एवं परिष्कृत होता चला गया। सितार के मुख्य रूप से दो प्रचलित स्वरूप परिलक्षित होते हैं-

1. चल ठाट
2. अचल ठाट

सरोद

वर्तमान समय में इस वाद्य का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका वादन जवा से होता है। पहले जवा का निर्माण तार में मोम लगाकर किया जाता था परन्तु वर्तमान समय में नारियल के टुकड़े से निर्मित जवा का प्रयोग किया जाता है।

सारंगी

सारंगी की परिकल्पना रावणास्त्र तथा रावणहस्त वीणा से हुयी। संगीत शास्त्रों में इसका सर्वप्रथम उल्लेख 'संगीतराज' में प्राप्त होता है। वर्तमान समय में सारंगी का जो स्वरूप प्राप्त है इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर उनके वादन के आधार पर उनके स्वरूप एवं वाद्य रूप का परिष्करण होता रहा है। सारंगी के अनेक रूप वर्तमान समय में दिखाई पड़ते है जिनमें से प्रमुख है-

1. विना तरब वाली सारंगी।
2. तरब वाली सारंगी।

वर्तमान समय में प्रचलित लोक संगीत में प्रयुक्त होने वाली कई अन्य सारंगियों का वर्णन लोक वाद्यों के अर्न्तगत किया जाता है।

स्वरमण्डल

21 तन्त्रियों से युक्त स्वर मण्डल के विषय में कल्लिनाथ जी ने 'संगीत रत्नाकर' की टीका करते हुये लिखा है कि शारंगदेव द्वारा वर्णित मत्तकोकिला ही 'स्वर मण्डल' है। स्वर मण्डल एवं कानून में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। स्वर मण्डल में 21 एवं कानून में 28 तन्त्रियाँ लगी होती है। वर्तमान समय में विभिन्न आकृतियों के स्वरमण्डल बन रहे है किन्तु कार्य की दृष्टि से सब एक ही है।

निष्कर्ष स्वरूप संगीत शास्त्रों में वर्णित तत् वाद्यों के विस्तृत अध्ययन के फलस्वरूप यह तत्व परिलक्षित होता है कि प्रत्येक काल में एक या दो ऐसी वीणाएँ दिखाई पड़ती है जिनका प्रभाव उस काल विशेष में सर्वाधिक रहा है तथा उन वीणाओं के स्वरूप के समान कई अन्य वीणाएं भी उस काल में अवतरित होता प्रतीत होता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा प्रो. स्वतन्त्र, भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विश्लेषण
2. मिश्र डॉ. लालमणि, भारतीय संगीत वाद्य
3. जौहरी सीमा, संगीतायन
4. सुदीपराय डॉ. वी.एस., जहान-ए-सितार
5. मिश्र डॉ. लालमणि, तन्त्री वाद्य
6. संगीत 'पत्रिका' वाद्य-वादन अंक जनवरी-फरवरी 1975 ई.

कल्पना के लंब का, अवलंब है : संगीत

दीपक त्रिपाठी

संगीत ज्ञान-विज्ञान के अनंत कोटिक विस्तार का सदृश्य प्रमाण है। जिस प्रकार एक आकाश गंगा में अनेकों ब्रह्मांड समाये हुये हैं, उसी प्रकार एक स्वर के अन्दर संगीत के कितने ही विशाल ब्रह्मांड संस्थित हैं। प्लेटो कहते हैं कि–

आत्मा को ब्रह्मांड, दिमाग को पंख, कल्पना को उड़ान देता है– संगीत सृष्टि के चारों ओर व्यक्त, अव्यक्त जो भी घट रहा है वह सब संगीतमय है। आसमान में तारों का गीत और धरती पर साँसों का गीत। सपनों का गीत, हवाओं का गीत, मिलन का गीत, विरह का गीत। हमारा उठना-बैठना, सोना-जागना, खोना-पाना, हँसना-रोना सब कुछ संगीतमय है। धड़कनें जीवन-ताल हैं जो निश्चित गति से गतिमान हैं। साँसें प्राणालय । तन से मन तक फैली हुई एक अद्‌भुत रागिनी। इस रागिनी को जीव-विज्ञानी "जैविक घड़ी" कहता है। योग विज्ञान इसे चक्र कहता है। मानव शरीर में सात चक्र होते है, संगीत में सात स्वर।

बाइबिल में कहा गया है कि इस सृष्टि में सबसे पहले बस स्वर था। उस स्वर में लय मिली तों बन गया जीवन। तभी तो सृष्टि की लय जरा सी बिगड़ी नहीं कि प्रलय गीत गूँज उठता है। विज्ञान भी पुष्टि देता है कि गति की माप ध्वनि है। ध्वनि यो स्वर है। लय है। ताल है। नाद है। ध्वनि जो कोलाहल है तो रव भी है। जिसकी अधिकता / तीव्रता बेचैनी देती है, तो उसी का सूक्ष्म प्रभाव मस्तिष्क को शान्ति भी प्रदान करता है।

जीवन की हर अनुभूति में संगीत है। सुख-दुःख, आशा-निराशा, आह्लाद-विषाद, जीवन सर्वत्र श्वेत और श्याम में बँटें हुए स्वरों का गीत है, लेकिन हमें जो प्रिय लगा, जो सुखद लगा वो नाद हो गया। जो अप्रिय लगा वो कोलाहल बन गया। लेकिन संगीत इन जीवन की परिभाषाओं से ऊपर उठकर अपनी अभिव्यक्ति देता है। जो भी संगीत के इस स्वच्छंद संसार में जितना विचरण करता जाता है संगीत उसे और भी तैरने के लिए, गहरे उतरकर मोती चुनने की राह दिखाता है।

ऋग्वेद् में कहा गया है - यदि तुम संगीत होकर ईश्वर को पुकारोगे तो वह निश्चित ही प्रकट होगा और अपने नेह से तुम्हे भर देगा। श्री कृष्ण कहते है-

"नाहं बसामि बैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च।
मद्‌भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठति नारद।।"

अर्थात् न मैं बैकुण्ठ में रहता हूँ और न ही योगियों के हृदय में। मैं रहता हूँ संकीर्तन और गायन में डूबे प्रेम-मद से भरे अपने भक्तों के हृदय में।

ईश्वर ने सृष्टि को रचा। सारे अवयवों को अलग-अलग बनाया। आकाश, धरती, नदियाँ, पर्वत, झरनें, पशु-पक्षी, मानव परन्तु सभी को एक लय की डोरी से बाँध दिया जिसकी गति तनिक भी घटती-बढ़ती है तो असहजता स्वभावतः उत्पन्न हो जाती है। लय यदि घट-बढ़ रही है तो इसमें भी एक लय है। जन्म की किलकारी से मृत्यु के रुदन तक, धरती से आसमान तक एक अदृश्य लय हर ओर बह रही है। लाओत्से कहते हैं -"आत्मा का संगीत सृष्टि के हर छोर पर सुना जा सकता है।"

प्रातःकाल का समय जादू बिखेरता है। रात का अन्तिम प्रहर और प्रातःकालीन उजाले के बीच का

शोध छात्र, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

समय, जहाँ पर दिन-रात मिलते हैं, उस पल नहायी-धोयी सुबह, मंदिरों की घंटियाँ, अजान की आवाजें, तन-मन को अपने स्पर्श से तरोताजा कर देने वाली निर्मल हवा, ऐसे में किसी कोने से संगीत की मीठी ध्वनियाँ हवा में तैरती हुई आपके कानों को स्पर्श करें तो इस बेला के साथ संगीत का ये संगम ग़ज़ब का होता है। मन अपने आप ही राग-तरंग में नृत्य करने लगता है।

नाद जो संगीत का आधार तत्व है। मनोभावों की अनुभूतियों का सृजनकर्ता, समस्त चराचर जगत को अपनी प्रेरणा से ओत-प्रोत करने वाला है। जिसके लिए प्रणव भारती में कहा गया है :-

"नास्ति नादात्परो मंत्रें न देवः स्वात्मनः परः।
नानुसन्धेः परा पूजा नहि तृप्ते परं सुखम्।।"

अर्थात् नाद से बड़ा कोई मंत्र नहीं, आत्मा से बड़ा कोई देव नहीं, नाद के अनुसंधान से बड़ी कोई पूजा नहीं तथा तृप्ति से बड़ा कोई सुख नहीं।

नाद के अनूठेपन का परम सत्य संगीत की सुखानुभूति की प्रेममयी छुअन है। प्रेम कई तरह से छूता है, स्पर्श करता है। आपकी साँसों को महका देता है और ये संगीत के इतने महीन और नायाब कणों का स्पर्श होता है जो आपके रोम-रोम में ऊर्जा का संचार कर देता है।

संगीत मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन है तो मोक्ष प्राप्ति का सहज मार्ग भी है। मानव यदि अपने आप को संगीत की दिशाओं की ओर अग्रसर कर लेता है तो वह पथभ्रष्ट नहीं हो सकता है। वैदिक काल से ही गुरूकुलों में अन्य विषयों के साथ- साथ शिष्यों में निरंकुश भाव घर न कर जायें इसलिए उन्हे संगीत की निर्मल गंगा का प्रातः स्नान और संध्या में मज्जन पान कराया जाता था जो उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाने में मदद करता था। अनेकों प्रमाण, अनेकों अनुसंधान संगीत की महत्ता का आख्यान प्रस्तुत करते है। मेरे मन की भावनाएँ भी कुछ इस प्रकार स्वरित हैं : -

"कंठ से, जब स्वरों का, निकास होता है।
आत्मशान्ति स्पर्श, आस-पास होता है।।
आलाप, सरगम, तानों से हो, रोम-रोम रोमांचित।
अदभुत ऊर्जा से होता है, हृदय पुँज प्रकाशित।।
यही है वो संगीत, जिसे दैवीय कहा जाता है।
सभी कलाओं में इसे आदरणीय कहा जाता है।।"

अतः उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि संगीत कल्पनाओं का महासागर है जिसका छोर ढूँढने निकले तो जहाँ पहुँचेंगे वहीं से नया छोर निर्धारित हो जायेगा। संगीत तो **"आत्मवत् सर्वभूतेषु"** का परम भाव है जो कहता है "मुझे सब में देखों, सबको मुझ में देखों"। इस प्रकार हमारी अनुभूतियों का जो परिलक्षित रूप है वही संकल्पनाएँ एक लक्ष्य की निर्मिति करती हैं। जिसके परस्पर शोधन संशोधन से परम उद्देश्य की प्राप्ति होती है। संगीत इहलौकिक, पारलौकिक सर्वत्र व्याप्त है जो निरन्तर चिंतन प्रधान दृष्टिकोंण से ही अपने सतरंगी धनुष की कमान को खींचे रखता है।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

1. आचार्य बृहस्पति, के. सी. डी., भरत का संगीत सिद्धान्त
2. आचार्य बृहस्पति, के. सी. डी., संगीत चिंतामणि
3. अहा! ज़िन्दगी पत्रिका (संगीत विशेषाँक)

शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता पर ग्रहण

रितु सिंह

भारतीय मान्यता के अनुसार संगीत साक्षात् ईश्वर का स्वरूप है। संगीत नाद और शब्द या वाक् ये सब समानार्थक है। कहा गया है कि नाद ही ब्रह्म है। संगीत ईश्वर-प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग बताया गया है। **"वेदों में मैं सामवेद हूँ"** इसका तात्पर्य यही है कि सृष्टि का जो छंद-तरंगित मंडल है, वह नारायणीय स्पन्दन का ही रूप है, जिससे प्रतिक्षण सृष्टि का आविर्भाव हो रहा है, अर्थात् जो अव्यय तत्व है, वह अपनी अक्षर या प्राण शक्ति की महिमा से क्षर या भूत-भौतिक भाव को प्राप्त हो रहा है एवं दूसरी ओर वही पुनः अपने क्षर रूप को विलीन करता हुआ पुनः अक्षर भाव में लीन हो रहा है। जहाँ से सृष्टि का हिंकार और प्रस्ताव होता है, वहीं उसका प्रतिहार और निधन है। उसी के मध्य में शक्तिशाली उद्गीथ है। हिंकार और निधन, प्रस्ताव और प्रतिहार उसी के दो पंख है। इन्हीं के द्वारा अंकुचन और प्रसारण की बलवती प्रक्रिया सिद्ध हो रही है।

शास्त्रीय संगीत की मधुर स्वर-लहरियों से परमात्मा से लेकर पशु-पक्षी एवं समस्त जड़ चेतन आन्दोलित हो जाते हैं। यह सभी जानते एवं स्वीकार भी करते हैं। फिर वही संगीत आज उपेक्षित क्यों है? जिस देश की सांगीतिक परम्परा इतनी सुदृढ़ व सम्पन्न हो, जिसे अपनाने के लिए विश्व के सभी देश नतमस्तक हो, जिस संगीत की पूजा विश्व के कोने-कोने में होती हो। वही शास्त्रीय संगीत आज अपने ही अस्मिता बचाने के लिए बैचेन है। यह दुर्भाग्य का विषय है।

जिस संगीत ने हमारे देश को अनेक शीर्षस्थ एवं ख्याति लब्ध कलाकार दिए जिनमें पं. ओंकार नाथ ठाकुर, पं. अनोखे लाल, उ. बिस्मिल्ला खाँ, उ. विलायत खाँ, उ. जाकिर हुसैन जैसे विशिष्ट कलाकार भारत का झंडा विश्व-स्तर पर लहरा चुके हैं। जिस संगीत से हर जन्म में वे कलाकार अपनी प्यास बुझाने के लिए व्याकुल हैं; वही संगीत आज उपेक्षित होकर रह जाए, यह कलाकारों के लिए गहरे चिन्तन का विषय है। किसी लेखक ने सही ही कहा है कि **"जिससे मन भर जाए, तृप्ति हो जाए- वह खाना और मन न भरे-प्यास बाकी रहे-उसे गाना समझना चाहिए।"**

ये बहुत ही सोचनीय स्थिति है इतने बड़े देश में कलाकारों की संख्या इतनी कम क्यों है? आज समाज में जो संगीत व्याप्त है वह निश्चय ही अपसंस्कृति का परिचायक है। जो संगीत हमारा आध्यात्म से जुड़ा था, जिसे सुनकर मन व आत्मा शान्त एवं आह्लाद हो जाता था। जिस संगीत से ध्यान को केन्द्रित कर, जीवन को अनुशासित किया जा रहा हो। वही सच्चा संगीत आज मानव समाज से दूर होता जा रहा है।

आज जो संगीत हमारे समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। वह संगीत और समाज दोनों के साथ नाइन्साफी है। फिल्मों के नाम पर जो गाने समाज में प्रचलित हो रहे है वो अश्लील एवं द्विअर्थी होने लगे है। जो चीजें हमारे समाज में परदे में रहने योग्य थी उन्हें द्विअर्थी गानों के माध्यम से समाज में सार्वजनिक बनाया जा रहा है। समाज को ऊँचा उठाना जिस संगीत का परम कर्तव्य है। यह संगीत और समाज दोनों का ह्रास नहीं तो क्या है? आज जो गाने फिल्मों में आ रहे हैं वह कितने समय के लिए रहते हैं, आज गुनगुना लिया कल भूल गए। क्या लोकप्रियता का अर्थ इतना ही है? एक वो समय था जब गानों का सीधा सम्बन्ध हमारे हृदय एवं जीवन से जुड़ा होता था जिन्हें आज भी गाने पर हमारा मन रोमांचित सा हो जाता है, ऐसे गीतों की रचना होती थी जो आज भी हमारे जबान पर बरबस आ ही जाते है तथा जिन्हें गाते-गाते कहीं खो से जाते हैं वो गाने अमर हो गए क्योंकि इनमें भारतीय रागों को पिरोया गया है।

शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शास्त्रीय संगीत के ह्रास का एक बहुत बड़ा एवं प्रमुख कारण समयाभाव एवं धैर्य की कमी है। आजकल संगीत के विद्यार्थियों में एक प्रवृत्ति बहुत ही तेजी से बढ़ती जा रही है। थोड़ा सा गाना-बजाना आ जाने पर वह स्वयं को एक बड़ा कलाकार समझने लगते है चाहे उनकी शिक्षा अधूरी ही रहे पर उन्हें मंच पर आने की जल्दी रहती है। भले ही उन्हें दरबारी में गान्धार का प्रयोग पता न हो, 'सा' से 'प' को अलग करने में असमर्थ 'मालकौंश' और 'मारवा' के भेद से अनभिज्ञ तथा 'चारताल' और 'एकताल' की विशेषता को पहचानने में असफल लोग भी अपने आपको विद्वान एवं बड़ा कलाकार मानने और कहने में तनिक भी संकोच नहीं करते। स्व. श्री बसंत देसाई ने किसी पत्रिका में लिखा था- ''संगीत की दुनिया एक अगाध कुएँ जैसी है। जैसे-जैसे आप गहरे बैठते जाते हैं आपको प्रतीति होती जाती है कि आपका ज्ञान और सिद्धि कितनी सतही कितनी छिछली है।''

भारतीय संगीत के वो कलाकार जिन्होंने विश्व स्तर पर अपना परचम फहराया उन्होंने संगीत को कई वर्षों तक अनवरत कठिन साधना की तब जाकर उन्हें वह सिद्धि और ख्याति प्राप्त हुई परन्तु आज की युवा पीढ़ी वो ख्याति व सम्मान तुरन्त ही पा जाना चाहती है।'' इसे धैर्य का अभाव नहीं तो और क्या कहेंगे?

शास्त्रीय संगीत को पीछे धकेलने में हमारे आज के प्रायोजक, संयोजक, समीक्षक सभी उत्तरदायी है।

सर्वप्रथम प्रायोजक कलाकार को ही लें उनको थोड़ा सा गाना-बजाना आया नहीं कि घमण्ड अपने आप आ गया, मुझसे बड़ा कलाकार कोई और नहीं जो भी हूँ सो मैं ही हूँ। चलिए! जनाब मान लिया कि आप अच्छे कलाकार है तब .**'समरथ को नहिं दोस गुसाई'** अपने आपको एक अच्छा कलाकार मानकर मनमानी करना, संयोजकों के साथ सहयोग न करना (मनमानी शर्ते रखना, देर से आना, विभिन्न प्रकार की माँगे करते रहना, माइक-लाइट-स्टेज की व्यवस्था में मीन-मेख निकालना) इत्यादि अपना अधिकार समझ बैठते हैं।

कुछ कलाकारों का यह सोचना कि शास्त्रीय संगीत का कार्यक्रम तो छोटा हो ही नहीं सकता, जो कि नितान्त भ्रामक है। पहले की तरह श्रोताओं के पास अब समय भी नहीं रहा कि वह एक ही राग को दो घंटे लगातार सुन पाए। पहले जब रिकार्ड्स का चलन नहीं था, मात्र 68 RPM के 3-311 मिनट वाले रिकार्ड भरे जाते थे तब देश के शास्त्रीय संगीत के रत्न समान गायक-वादकों ने उतने अल्प समय में भी अपने जौहर दिखाए थे। खाँ साहब अब्दुल करीम खाँ के ''पिया बिन नाही आवत चैन'' तथा ''गोपाला मेरी करूणा क्यों नहीं आवै'', फैयाज खाँ के 'नट बिहाग' (झन-झन, झन-झन पायल बाजे तथा जयजयवन्ती ('मोरे मंदर अब लौ नहीं आए') बड़े गुलाम अली खाँ के 'आए न बालम का करूँ सजनी', तथा 'हरि ओम् तत् सत्' वाले सभी रिकार्ड अल्पावधि वाले ही हैं तो क्या उन्हें ख्याति प्राप्ति नहीं हुई या वे विश्व के शीर्षस्थ कलाकार नहीं हुए।

कुछ संयोजक भी महान होते हैं उन्हें कलाकार से ज्यादा अपने अतिथि विशेष का ध्यान रहता है। कलाकार को तो समय से 2 घण्टे पहले ही बुला लिया और अतिथि को समय पर आने के लिए कह दिया। अब कलाकार समय पाबन्द हुआ तो दो घण्टे पहले ही आकर श्रोताओं को इन्तजार करे और अपना समय बर्बाद करें। हद तो तब हो जाती है जब कार्यक्रम के दौरान चाय-नाश्ता चलने लगता है, यह कलाकार और कला दोनों का अपमान है जो बिल्कुल ही नहीं होना चाहिए।

रही समीक्षकों की बात, वो तो अपने आप को इतना तक समझ बैठते है मानों कलाकार को संगीत की शिक्षा उन्होंने ही दिया हो। भले ही उन्हें संगीत का 'सा' भी पता न हो लेकिन कार्यक्रम के दौरान कौन सा स्वर सही लग रहा है और कौन सा गलत। फँला राग है अच्छा गम्भीर प्रकृति का है! भले ही वह चंचल प्रकृति का हो परन्तु आलाप से ही उन्हें पता लग गया कि अमुक राग चंचल है कि गम्भीर। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है सुनकर या बिना सुने बिना जाने किसी कलाकार के कला के विषय में कुछ भी बोल देना सर्वथा अनुचित है। आज के इस परिवेश में कलाकार को भी कम समय में अपनी कला और प्रतिभा को अधिक दिखाना होगा। संक्षिप्त में आलाप, श्रोताओं को देखते हुए विलम्बित नहीं तो मध्य लय का ख्याल तथा तान, तिहाइयाँ प्रस्तुत करें जिसे श्रोता भरपूर पसन्द करते है तथा रसानुभूति होते है। इससे श्रोताओं को कम समय में अधिक सुनने का अवसर तथा आनन्द प्राप्त होगा और शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता बनी रहेगी।

लोक संस्कृति एवं वाद्य (उत्तराचंल के विशेष संदर्भ में)

डॉ. शोभित कुमार नाहर

जब कभी भी लोक संगीत या लोकगीत या लोकनृत्य की चर्चा होती है तो अनायास लोक संस्कृति का व्यापक क्षेत्र हमारे सामने उभर कर आता है। इन सभी में "लोक" शब्द का समोवश ही इतना सारगर्भित और विशिष्टता से परिपूर्ण है, कि जिसका उल्लेख आते ही अपने देश की विविधताओं से पूर्ण सांस्कृतिक इतिहास की गौरवमयी परंपरा की ओर हमारा ध्यान बरबस जाने लगता है। "लोक" के जुड़ जाने से ही इसका संबंध जनसाधारण से मानों स्वतः स्थापित होने लगता है। इसकी व्यापकता में जन-जन का जुड़ाव, लगाव मानो प्रतिबद्धता का आभास होता है। "लोक" वस्तुतः पृथ्वी पर फैले हुये उस विशाल जनसमूह का संकेत है, जो शास्त्रीयता और पांडित्य चेतना से अलग होने के कारण समस्त विषयों का ज्ञाता है। ग्राम और नगर, सांस्कृतिक और गैर-सांस्कृतिक, सम और असम, वैदिक और अवैदिक इन सभी संकीर्ण और सीमित धारणाओं से उपर उठकर "लोक" अपनी विराटता में मानो मग्न है।

लोक संस्कृति के अन्तर्गत लोकगीत एवं लोक नृत्य का व्यवहार हमारे देश में काफी समय से प्रचार-प्रसार में चला आ रहा है। इसमें भी लोक संस्कृति में नृत्य का समावेश तो मानों प्रकृति का एक अनुपम उपहार है। लोकगीत हो या फिर लोकनृत्य, मानव अपने मनोभाव को किसी साधन, भाषा या फिर विभिन्न आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से प्रारंभ से ही व्यक्त करता आया है। चाहे इसके लिये शास्त्रानुकूल विधिवत् प्रशिक्षण हो या न हो। वैसे संगीत एवं नृत्य से मानव जाति का संबंध आदि काल से माना जाता है। मनोभावों को व्यक्त करने के क्रम में यही आंगिक चेष्टाओं तथा भाव भंगिमायें बाद में नृत्य के रूप में विकसित हुई।

इन्हीं आंतरिक भावनाओं को वाह्य प्रदर्शन के रूप में व्यक्त करने के क्रम में जहाँ कभी भी लोक संगीत या लोकनृत्य का उल्लेख होता है इनके साथ लोक वाद्यों का साहचर्य भरा प्रयोग एक अभिन्न अंग के रूप में मानों जुड़ा ही रहता है।

यह लोक संस्कृति वैसे तो भावनाओं एवं मनोभावों की दृष्टि से प्रत्येक क्षेत्र में कमोवेश काफी साम्यता भी रखती है लेकिन प्रत्येक प्रदेश की, प्रत्येक क्षेत्र की एक विशिष्ट भौगोलिक स्थितियां होती है और इन्हीं स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अलग-अलग प्रकार की संस्कृतियों का जन्म होता है विशेषकर भारतवर्ष की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक स्थिति अनेकता में एकता का अनोखा उदाहरण है। हमारे देश के विभिन्न प्रदेश में एक अलग सांस्कृतिक परिवेश में लोक संस्कृति का अभ्युदय हुआ माना जाता है।

उत्तर भारत के हर क्षेत्र में चाहे ऊँची पहाड़ी वाला क्षेत्र हो या सूखा रेगिस्तान का क्षेत्र या फिर समतल का हरा-भरा क्षेत्र, प्रत्येक तरफ मधुर स्वर, गीत, वाद्यों के गूंज तथा नृत्य की थिरकन की बहुरंगी छटा हमें सुनाई व दिखाई पड़ती है।

हमारे देश का अत्यंत खुबसूरत तथा पहाड़ी और हरियाली से भरा प्रदेश उत्तरांचल की छटा अत्यंत निराली है। उत्तरांचल को "देवभूमि" भी कहा जाता है, जहाँ चारो धाम, पंच प्रयाग, पंचबद्री से युक्त अनेक ऐतिहासिक धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्व से युक्त स्थान है। उत्तरांचल का सांस्कृतिक

522/13ई/1 बेली कालोनी, स्टैन्ली रोड, इलाहाबाद 211002 (उ0प्र0)

महत्व भी अनन्य है, जहाँ के लोकगीत एवं लोकनृत्य से युक्त लोक संस्कृति में अनेक प्रकार के वाद्यों के प्रयोग को देखा सुना जाता है। वैसे तो उत्तरांचल की लोक संस्कृति में प्रयुक्त विभिन्न वाद्यों में तत्, सुषिर, अवनद्ध तथा घन चारों प्रकार के वाद्यों के प्रयोग का विवरण मिलता है और प्रयोग के आधार पर सामान्यतः उत्तरांचल के लोक वाद्यों को भी दो भागों में विभक्त किया जाता है- स्वर वाद्य और ताल वाघ।

कुछ प्रमुख वाद्यों का विवरण इस प्रकार है- स्वर वाद्यों में तुरही, रणसिंघा, बाँसुरी, मौच्छांग, सारंगी, शंख, अलगोजा, मश्क बाजा इत्यादि प्रमुख हैं तो ताल वाद्यों में ढोल, दमाऊँ, ढोलक, डौंर, हुडक्की, नगाड़ा थाली, इत्यादि। वाद्यों का विवरण इस प्रकार है-

तुरहीः- तुरही स्वर वाद्य धातु (पीतल या तांबे) का बना होता है जो उत्तरांचल में अंग्रेजी के अक्षर 'ड' (सी) के आकार के समरूप होता है। इसे दो-तीन जगहों से जोड़कर यह आकार दिया जाता है और मुँह से फूंककर इससे ध्वनि (स्वर) उत्पन्न किया जाता है। यह प्रायः देवी-देवताओं के धार्मिक यात्रा तया फिर मंगल विवाह यात्रा में बजाया जाता है।

रणसिंघाः- यह वाद्य भी धातु (पीतल या तांबे) से निर्मित की जाती है और जो अंग्रेजी के अक्षर "S" (एस) के आकार के समरूप बनाया जाता है। इस वाद्य का प्रयोग युद्ध के अभ्यास में या फिर युद्ध के अवसर पर सूचना देने या सावधान करने में किया जाता है। वैसे आज कल गढ़वाल के लोकनृत्य "जागर नृत्य" में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

बाँसुरीः- बाँसुरी एक ऐसा वाद्य है जो भारतवर्ष के प्रायः सभी क्षेत्र में चाहे शास्त्रीय या लोक सभी प्रकार के संगीत में सर्वप्रिय और सर्वव्यवहार योग्य वाद्य है। यह वाद्य उत्तरांचल में भी अत्यन्त लोकप्रिय है। जो बांस को बीच में खोखला कर बनाया जाता है। यहाँ यह वाद्य शृंगार के भाव उत्पन्न करने वाले लोकनृत्यों में अधिकता से बजाया जाता है।

मोछांगः- यह वाद्य उत्तरांचल के गढ़वाल में मुख्य रूप से स्वर वाद्य के रूप में प्रचलित है जो अष्ट धातु की पतली शिराओं से निर्मित होता है। लगभग 8 ईंच लंबा होता है। इस वाद्य पर अंगुली के संचालन और होठों तथा दांतो की हवा के विशेष प्रभाव से मधुर स्वर उत्पादित किये जाते हैं तथा दाहिने हाथ की अंगुलियों से छेड़कर बजाते हैं। मुख की सहायता से इसे बजाने के कारण ही इसे मोछांग कहते हैं।

सारंगीः- उत्तर भारतीय संगीत में प्रचलित सारंगी वाद्य उत्तरांचल में भी लोक वाद्य के रूप में अत्यन्त प्रचलित है। जिसका प्रयोग सभी क्षेत्र के लोक संगीत में किया जाता है।

अलगोजाः- उत्तरांचल में अलगोजा वाद्य का भी प्रयोग देखा गया है जिसका आकार भी बाँसुरी की तरह होता है। दो बाँसुरी को एक साथ मुँह में रखकर इसे बजाते हैं और इस कला को उत्तरांचल में रामसौर भी कहकर बुलाते हैं। इसका प्रयोग झुमैलो तथा खुदेड़ जैसे लोकनृत्यों में करूणा उत्पन्न करने के लिये किया जाता है।

शंखः- इस वाद्य का प्रयोग धार्मिक एवं आध्यात्मिक परिवेश के कारण उत्तरांचल में भी बहुलता से किया जाता है। पूजा, लोकगीत, नृत्य तथा सभी धार्मिक उत्सवों में इसका प्रयोग अनिवार्य रूप से देखा जा सकता है।

मश्क बाजाः- उत्तरांचल में यह वाद्य मुख्य रूप से वैवाहिक अवसरों पर प्रयोग के लिये अत्यन्त प्रचलित है। इसमें चमड़े के थैले पर पांच पाईप सा लगे होते हैं जिनमें एक में मुँह से फूंक मारी जाती है। तथा दूसरे पाईप से, जिसमें बाँसुरी की तरह छिद्र बनी होती है, इसे बजाकर स्वर उत्पन्न किये जाते हैं। शेष तीन पाईप सहायक नाद उत्पन्न करते हैं। इस वाद्य का प्रयोग भारतीय सेना में भी देखा जाता है।

ढोलः- यह एक ऐसा महत्वपूर्ण वाद्य है, जिसका प्रयोग प्रायः प्रदेश के लोक संगीत में प्राचीन काल से ही किया जा रहा है। इसे ढक्का भी कहते हैं। गढ़वाल में प्रचलित ढोल की लंबाई 1.5 फीट तथा चौड़ाई 1.25 फीट होती है। जो वर्तुलाकार आकार में दोनों मुखों पर चमड़ा मढ़कर निर्मित किया जाता है। इसमें बाईं पुड़ी बकरी या हिरण के खाल से तथा दाई पुड़ी लाकुड़ से बनाई जाती है। स्वर में मिलाने हेतु कस्णिका तथा ओंठी का प्रयोग किया जाता है। ढोल का प्रयोग उत्तरांचल के प्रायः हर नृत्य में ताल का सहयोग देने के लिये किया जाता है।

दमाऊः- उत्तरांचल का यह वाद्य तांबे से बना होता है जो 1 फुट व्यास में लगभग 8 ईंच गहरे कटोरे के समान होता है। इसे ''दमो'' भी कहते हैं। इसके मुख पर भैंसे की मोटी खाल मढ़ी होती है तथा शेष हिस्से में 32 कुंडली छेद की सहायता से पूड़ी को खिंची रखने के लिये चमड़े की तांत की जाली बुनी रहती है। इस वाद्य में ढोल की तरह सुर को व्यवस्थित करने के लिये कनिस्काओं की व्यवस्था नहीं होती है।

ढोलकः- उत्तरांचल में ढोलक आम या साल की लकड़ी से बनाया जाता है, जिसके पुड़े में लंगूर की खाल का प्रयोग किया जाता है इसके बाई पुड़ी में विशेष प्रकार का स्याही लगाया जाता है जिससे गूँज अच्छी प्राप्त होती है। लोहे अथवा पीतल के कुंडलों से ढोलक को आवश्यकतानुसार सुर में किया जाता है। ढोलक के प्रयोग में कंधे पर लटकाने के लिये कंधोटी सूत की बनी होती है। ढोलक का अधिकतर उपयोग विवाह आदि उत्सवों में होने वाले नृत्य में किया जाता है।

डौंरः- उत्तरांचल के परिवेश में डमरू की तरह का यह वाद्य अपनी एक विशिष्टता रखती है। इसका स्वरूप हुड़की जैसा होता है, परन्तु यह हुड़की से आकार-प्रकार में थोड़ा भिन्न होता है। हुड़की का आकार आयताकार होता है जबकि डौंर का आकार वर्गाकार तथा चार के अंक के समान होता है।

यह सागवान की ठोस लकड़ी से बनाया जाता है, जसमें मोटी खाल मढ़ी रहती है। उतराँचल के चर्म से मढ़े (अवनद्ध) वाद्यों में डौंर से ऐसा वाद्य है, जिसे कंधे से लटकाया नहीं जाता, अपितु दोनों घुटने के बीच इस प्रकार स्थिर किया जाता है और ऊपर की पुड़ी को दायें हाथ से बजाया जाता है। इस हाथ में यस्टिका नहीं होती। डौंर के साथ कांसे की थाली बजाना उत्तरांचल में अनिवार्य माना जाता है। इस वाद्य का प्रयोग देवनृत्य, आंझरी नृत्य, भूत नृत्य इत्यादि में किया जाता है।

हुड़कीः- उत्तरांचल में हुड़की वाद्य मूल रूप से चारण या माटों का वाद्य है, जो नृत्य की संगत में मुख्य रूप से प्रयुक्त किया जाता है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन और मध्यकाल में हुड़क नामक प्रसिद्ध वाद्य का ही यह एक आधुनिक रूप है। यह खिमारी की सूखी लकड़ी को खराद की मदद से बनाया जाता है। इस वाद्य की पुड़ी बकरी के चर्म से बनाया जाता है। कुछ वादक इसमें घुंघरूओं का भी प्रयोग करते हैं। यह वाद्य केवल दायें हाथ से बजाई जाती है जबकि बायें हाथ की पकड़ केवल कमर पर होती है। इसी हाथ से कंधौटी के द्वारा डोरी पर दबाव डालकर घुंघरू की मद्द से लयात्मक झंकार उत्पन्न किया जाता है।

नगाड़ाः- यह वाद्य उत्तरांचल में आकार में बड़ा होता है, जो पहले लकड़ी द्वारा बनाया जाता है परन्तु आजकल पीतल तथा तांबे का प्रयोग शुरू हो गया है। इस वाद्य के दो भाग कर दिये गये हैं, जिसमें छोटा भाग मादा या ऊघोटी कहलाता है। यह मिट्टी या लोहे का बना चमड़े से मढ़ा रहता है। इसका स्वर छोटा व ऊँचा होता है। दूसरा भाग धातु से बना शंकु के आकार का होता है जिसे नर कहा जाता है। इसका स्वर ऊँचा, गंभीर तथा देर तक सुनाई देने वाला होता है। इसक प्रयोग उत्तरांचल में ''सरौं'' नृत्य के अवसर पर किया जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि विविध सांस्कृतिक धरोहर से परिपूरित हमारे देश के प्रायः प्रत्येक प्रदेश तथा भू-भाग में उनकी सांस्कृतिक परंपरा में संगीत वाद्यों का, लोक संगीत, नृत्य तथा संस्कृति में अप्रतिम योगदान रहता है। यह न केवल सांस्कृतिक प्रस्तुतियों का संपूर्णता प्रदान करते हैं अपितु उनमें क्षेत्र विशेष की विशिष्टता प्रदर्शित करने में सहायक भी सिद्ध होते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. मैठानी डॉ. तुष्टि, भारतीय आध्यात्मिक पृठभूमि में गढ़वाली लोक संगीत, सत्यम् प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. ममगाई डॉ. शिखा, पौड़ी गढ़वाल के लोक संगीत का विश्लेषाणात्मक अध्ययन, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. Sharma Dr. Manorama & Fold India, Uttar Pradesh and Uttaranchal Vol-4 Sandeep Prakashan, New Delhi
4. शर्मा डॉ. पूर्णचन्द्र, संस्कृति के स्तम्भ उत्तर क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र पटियाला

संगीत और रस

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

भारतीय साहित्य के इतिहास में रस सिद्धांत एक संप्रदाय के रूप में प्रवर्तित रहा है। संगीत रत्नाकर के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य कल्लिनाथ के अनुसार शास्त्र में जो बात न कही गई हो परंतु शास्त्र से जिसका विरोध न हो शास्त्र जिसकी अनुज्ञा (अनुमति आज्ञा) देता हो, ऐसे सिद्धांत का गुरू शिष्य परंपरा से उपदेश दिया जाना 'संप्रदाय' कहलाता है जो व्यक्ति जिस सिद्धांत को जानता है और उसे तत्व सहित (यथार्थ रूप में) कह सकता हो, ऐसे मर्मज्ञ व्यक्ति की सार रूप (तत्वपूर्ण) उक्ति लोकजयी विष्णु के द्वारा 'संप्रदाय' कही गई है।

तुलसीराम देवांगन के अनुसार रस सिद्धांत जितना सरल लगता है समझने समझाने में उतना ही गंभीर और जटिल भी। संगीत के रस सिद्धांत तो और भी अधिक कठिन, विभिन्न मतमतान्तरों एवं विरोधाभासी विचारों से युक्त है। अतः प्रस्तुत संदर्भ में गंभीरता एवं जटिलता के बीच के मध्यम मार्ग का अवलंबन लेते हुए अधिक विस्तार से यथासंभव बचते हुए समझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। रस सिद्धांत का संबंध संगीत से स्थापित करने से पूर्व शास्त्रीय रस सिद्धांत को जिसे शास्त्रीय भाषा में रस-संप्रदाय कहा जाता है। मानव जाति के अंतःकरण में निवास करनेवाली विशिष्ट भावनाओं के सतोगुण प्रधान परमोत्कर्ष को ही शास्त्रज्ञों ने 'रस' कहा है अथवा जब कोई स्वाभाविक वस्तु कुछ परिवर्तित होकर मन के अंदर एक असाधारण नवीनता उत्पन्न कर देती है, तब उसे 'रस' कहते हैं। साहित्य में नव रस माने गये हैं-

श्रृंगारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानकाः।
विभत्साद्भूत इत्यष्टौ रस शांतस्तया मतः।।

1. श्रृंगार 2. हास्य 3. करूण 4. रौद्र 5. वीर 6. भयानक 7. वीभत्स 8. अद्भुत और 9. शांत।

भारतीय संगीत शास्त्रों में राग एवं रस, राग एवं नायक-नायिका भेद तथा स्वर एवं रस का संबंध बताया गया है। भारतीय शास्त्रीय संगीत में जितना महत्व 'रस' का है उतना ही महत्व सौन्दर्य शास्त्र का भी है क्योंकि बिना सौन्दर्य का संगीत नीरस प्रतीत होता है क्योंकि सौन्दर्य भाव है, अनुभूति है जिसे सामान्य भाषा के द्वारा व्यक्त कर पाना कठिन है। उसे व्यक्त करने के लिए जिन शब्दों, स्वरों, शैलियों और साधनों का प्रयोग किया जाता है उसे ललित कलाओं की बहुरंगी विद्याओं के रूप में स्वीकार किया गया। सौन्दर्य का भाव दैवी अनुभूति उपलब्धि अनवरत तथा असीम होती है। इस संदर्भ में सौन्दर्य को भाव कहते समय विशेष आशय यह होता है कि इसे दूसरों तक पहुंचाते रह जाए सौन्दर्यानुभूति के अनेक आकार, प्रकार और स्तरों का उल्लेख हुआ है। रूप, रस, गंध, स्पर्श और तन्मयता के द्वारा इस भाव को चिरंतर ग्रहण किया गया। सृष्टि के आदि स्वरों को समायोजित रख कर नाद सत्य के सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करता है। परम कल्याणकारी मनोभावों का प्रसारण करते हुए नाद 'शिवम्' का स्वरूप साकार करता है।[2]

शास्त्र में उस स्वर संदर्भ को संगीत[3] का नाम दिया गया है जो मधुर स्वर और वर्ण में विभूषित होकर हृदय का रंजन करे। किसी एक स्वर से तबतक भाव या रस की उत्पति नहीं हाती जब तक

फेकल्टी ऑफ परफोर्मिंग आर्ट्स, द एम0एस0 युनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, बड़ौदा (गुजरात)

कि उसमें अन्य स्वरों का सहयोग न हो। जब अनेक स्वर मिलकर किसी धुन में बंध जाते हैं तो वह धुन रस का संचार करने में समर्थ होता है।[4] महर्षि भरत के अनुसार प्रधान रस चार होता है- 1. श्रृंगार 2. रौद्र 3. वीर एवं 4. वीभत्स। इन्हीं के क्रमशः हास्य, करूण, अद्‌भुत एवं भयानक रसों की उत्पति होती है। श्रृंगार की अनुकृति हास्य, रौद्र का कर्म्म, करूण वीर का कर्म्म, अद्‌भुत एवं वीभत्स का दर्शन भयानक रस है। पंडित भातखंडेजी ने हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति में स्वरों के अनुसार रागों के जो तीन वर्ग नियत किए हैं, उन तीनों वर्गों में पं0 जी ने रसों का समावेश इस प्रकार किया है यथा-

रे - ध कोमल वाले संधिप्रकाश रागों में शांत एवं करूण रस।

रे - ध तीव्रवाले रागों में श्रृंगार रस

ग - नि कोमलवाले रागों में वीर रस

'रस' के विषय में विभिन्न विद्वानों का मानना है जैसे-[5] पं0 भातखंडेजी के निम्न विचार है कि यह बात निर्विवाद है कि संगीत रसानुवादी होना चाहिए परंतु अधिकांश गायकों का यही मत है कि आजकल प्रचलित लोकाभिरूचि के अनुकूल रागदारी संगीत में शब्दों का विशेष महत्व नहीं होता ..... शब्दों के अर्थ को समझकर गानेवाला आजकल विरला ही मिलेगा। तात्पर्य यह है कि भावी पीढ़ी को नये गाने, राग तथा रस का ध्यान रखते हुए तैयार करने चाहिए तथा उसका आलाप, विस्तार भी उसी आधार पर करना चाहिए। ऐसा करने से 'सोने पे सुहागा' जैसा फल होगा परंतु अबतक प्राप्त खानदानी चीजों राग-रस के अनुसार नहीं है।

स्व0 ओंकारनाथ ठाकुर के अनुसार एक दिन गुजरी तोड़ी का आह्‌वान कर रहा था। तोड़ी के ऋषभ गंधार की आलापचारी करते-करते कुछ ऐसी अवस्थाओं में डूब गया कि सहज ही मेरे आंखों में जल बहने लगा। बहुत बाद में मुझे पता चला कि यह दयावती श्रुति का परिणाम था। उस दयावति श्रुति की जाति करूण है ..... इस प्रकार श्रुति के दयावती नाम और उसकी करूणा जाति की सार्थकता अनुभव द्वारा साकार हो गई।[6]

प्रसिद्ध संगीतशास्त्री स्व0 ठाकुर जयदेव सिंह के अनुसार आचार्य भरत द्वारा प्रयुक्त 'गांधर्व' के विशेषताओं की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हुए कहते हैं गांधर्व संगीत की पहली विशेषता यह थी उसका प्रयोग वीणा, वेणु और मृदंग वाद्य के साथ होता था ..... गांधर्व की दूसरी विशेषता यह थी कि यह इतनी उच्च कोटि का था कि उससे देव और गांधर्व दोनों प्रसन्न होते थे।[7]

स्व0 आचार्य कैलाशचन्द्र देव वृहस्पति के अनुसार जबतक कोई स्वर स्थायी नहीं होता है तब तक वह भाव प्रकाशक होता है। स्वर सन्निवेश के द्वारा रस प्रक्रिया में स्थायी भाव का आलंबन अंश स्वर होता है जिसकी संज्ञा स्थायी स्वर होती है। अतः यह कहा जा सकता है स्थायी स्वर पर आलंबिक उसके संवादी स्वर द्वारा उदीप्त अनुवादी स्वरो द्वारा अनुभावित और संचारी स्वरों द्वारा परिपोषित हृदय की वह चेतना विशेष रस है। जिसके अनुभूति के समय रसतमोगुण जनित राग द्वेषादि ग्रंथियां विगलित हो जाती है।[8]

डॉ0 शरतचन्द्र श्रीधर परांजपे के अनुसार भरत की रस प्रक्रिया अभिनय प्रधान नाट्य कला से संबंध है नाट्य के अंतर्गत पाठ्य तथा गान दोनों का सहयोग नितांत ही आवश्यक है। भरत के अनुसार पाठ्य का रसानुकूल होना अति आवश्यक है इसी उद्‌देश्य से पाठ्य के विभिन्न गुणों में षड्‌ज आदि स्वरों के सम्यक प्रयोग का विधान उन्होंने किया है।

रस सिद्धांत वैदिक सिद्धांत है, नाट्यशास्त्र के उल्लेखानुसार इस विषय का संग्रह अथर्ववेद से भगवान ब्रह्मा ने किया।[9]

इस ब्रह् स्वरूप 'रस' (आनंद) की अनुभूति काव्य-नाट्य-संगीतादि कलाओं के माध्यम से एक अंश के रूप में होती है। संपूर्ण ललित कलाओं की सार्थकता यही है कि उनके माध्यम से आनंद स्वरूप ब्रह्म की कण रूप में आंशिक अनुभूति होती है।

आचार्य भरत ने इसके लिए अत्यंत आनंददायक माध्यम का निरूपण किया है। जिसके अंतर्गत गायन, वादन, नर्तन, अभिनय, काव्य, चित्र, मूर्ति, योग, ज्ञान, धर्म, अर्थ, काम, मोक्षादि संपूर्ण लौकिक एवं अलौकिक तत्वों का समावेश है। सारा संसार शांति की खोज में भटकता है। इन भटके हुए संसार के अशांत जनों को मनोरंजन के माध्यम से शांति प्राप्त

हो, आनंद प्राप्त हो, इसका उपाय उन्होंने नाट्य आदि कलाओं का दर्शन समझाया है।

नाट्य के प्रधान अंग के रूप में मुख्यरूप से गीत, वाद्य से संबंधित विषयों का निरूपण किया गया है तथा इससे रसानुभूति प्राप्त करने के लिए इसके समय के प्रयोग का भी निर्देश विधि विधानपूर्वक समझाया है। संगीत के द्वारा अनुभूत रस का रूप विभाग-अनुभाव संचारी भावों के द्वारा परिपुष्ट स्थायी भाव ही रस रूप में अभिव्यक्त होता है। अनेक रागों से विभिन्न रसों की सृष्टि होती है। एक स्वर अपने सहयोगी स्वरों के साथ मिलकर ही रसोत्पत्ति करने में सफल होती है। कोई भी वादी स्वर अपने संवादी अनुवादी और विवादी स्वर के संपर्क से ही किसी रस की सृष्टि करता है। शास्त्रीय स्वरों के अनुसार किसी निश्चित ऋतु में योग्य वातावरण को देखकर श्रोताओं के मनोभावनाओं को समझते हुए कोई राग जब किसी योग्य गायक द्वारा गाया जाता है तथा उसके गीत का काव्य भी, शब्द भी उस रस के अनुकूल हो तो रस कि उत्पत्ति अवश्य होती है। यदि कोई गायक वीभत्स रस की स्वरावली में शांत रस का गीत गाने लगे तो रसोत्पति कभी नहीं हो सकती। स्वर और शब्दों से ही गीत का निर्माण होता है और जब किसी गीत में उसके अनुकूल स्वर ही न रहे तो वह शब्दों की एक नीरस रचना मात्र ही रह जायेगी। जो बिना स्वरों की सहायता के रस की सृष्टि करने में या उत्पति करने में सदा असफल रहेगी। किसी एक ही शब्द द्वारा स्वरों की सहायता से विभिन्न रसों का उत्पन्न किया जा सकता है। जिस प्रकार किसी को बुलाना हो तो इधर आवो, इस शब्द को जब करूण स्वरों में कहा जायेगा तो ऐसा प्रतीत होगा मानो कोई सहायता के लिए पुकार रहा है। इस प्रकार करूण रस की सृष्टि होगी और इसी शब्द को अगर श्रृंगारिक स्वरों में कहा जाए तो मानों कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका को पुकार रहा है ऐसा प्रतीत होगा। यहां श्रृंगार रस की उत्पत्ति होगी और अगर इसी शब्द को कठोरता से कहा जाए तो ऐसा लगेगा कि कोई लड़ने के लिए अपने दुश्मन को चुनौती दे रहा है। इस तरह वीर रस की सृष्टि होगी। अतः उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि एक ही शब्द से विभिन्न रसों की उत्पति केवल स्वर भेद के कारण होता है और रसोत्पति का मूल कारण स्वर ही माना जाएगा।

काव्य द्वारा भी रूदन, क्रोध, भय, आश्चर्य, हास्य आदि भावों की सृष्टि तभी होती है जब उस कविता का उच्चारण भावानुसार हो और भावानुसार उच्चारण में स्वरों का कुछ न कुछ योगदान अवश्य होता है। वास्तव में हम देखें तो प्रत्येक उच्चारण का संबंध नाद स्वर और लय से है। इन नादों का संबंध स्वर से है और स्वरों की सहायता से भाव तथा रस की उत्पति होती है।

संदर्भ सूची :

1. गर्ग प्रभुलाल, संगीत विशारद, बसंत, पृ0 547
2. कुमार विजय, संगीत कला विहार, पृ0 230
3. गर्ग प्रभुलाल, संगीत विशारद, बसंत, पृ0 543
4. गर्ग प्रभुलाल, संगीत विशारद, बसंत, पृ0 548
5. क्रमिक पुस्तक भाग-6, हिन्दी अनुवाद, पृ0 27-28
6. ठाकुर पं0 ओंकारनाथ, प्रणवभारती, पृ0 255
7. सिंह स्व0 ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 307
8. आचार्य बृहस्पति, भरत का संगीत सिद्धांत, पृ0 270-271
9. देवांगन तुलसीराम, भारतीय संगीत शास्त्र, पृ0 410

प्रागैतिहासिक काल के संगीत में नारी का योगदान

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

नारी यानि आधी दुनिया। नारी यानि तमाम आपदाओं से लेकर मानव-जाति शोषण और पक्षपात की लंबी दर्दनाक कहानी। त्याग, सहनशीलता और क्षमा की शाश्वत मूर्ति कहकर हमारा साहित्य जिसे महिमा मंडित करते नहीं अघाता, उस नारी के ये गुण, और कुछ नहीं, लंबे ऐतिहासिक दमन के विवशतापूर्ण परिणाम है।

जंगली और बर्बर अवस्था से मानव जैसे ही सभ्यता के युग में प्रवेश किया, स्त्री पुरूष की तुलना में हीन प्राणी बन गयी। सभ्यता का विकास और नारी की गुलामी, दो विरोधी स्थितियां होते हुए भी एक साथ पनपीं, यह समूचे मानव-इतिहास की विडंबना पूर्ण घटना है। आदिम साम्य संघ की 'महामाता' दास युग में दासी बनकर, सामंतीय युग में 'गणिका' बनकर और आज के पूंजी-प्रधान युग में अपने चौतरफा शारीरिक और मानसिक शोषण के विरूद्ध संघर्षशीला रहकर हमारे संगीत और नृत्य को जिस प्रकार खून-पसीने से सींचती आयी है, समाज उसका बदला शायद कभी नहीं चुका पायेगा।

आदिम युग में, जब निजी संपति का उदय नहीं हुआ था, नारी समाज की मुख्य शक्ति थी। परिवार का ढांचा तब साम्य-सांघिक था, जिसमें सब नारियां एक गोत्र की होती थीं और उनके पति अलग गोत्रों से आकर उनके कुटुंब का हिस्सा बनते थे। सभी बहनें परस्पर सब बहनों के पतियों की पत्नियां होती थीं। इस तरह यूथ विवाहों में माता के जनकत्व को ही पहचाना जा सकता था, इसलिए संतानें मां के नाम से जानी जाती थी। पुरूष युद्ध में जाते थे, औजार बनाते थे, शिकार करके भोजन जुटाते थे। स्त्रियां घर-निर्माण, भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था देखती थीं। इस प्रकार अर्जित संपति पर साम्य संघ के सभी स्त्री-पुरूषों का समान अधिकार होता था। युद्ध और अन्न जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर ऐसी कोई 'सभा' न होती थी, जिसमें साम्य-सांघिक कबीले की औरतें हिस्सा न लेती हों। यह सभ्यता से पूर्व का युग था। हलांकि उस समय कबीलाई संगीत का कोई प्रमाणिक स्वरूप हमें उपलब्ध नहीं होता, लेकिन नारी सम्मानजनक स्थिति को देखकर यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि प्रागैतिहासिक युग में संगीत के विकास में स्त्री की स्वतंत्र भूमिका पुरूष की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण रही होगी।[1]

सभ्यता के विकास के साथ साम्य-सांघीय समाज व्यवस्था की सामूहिक धीरे-धीरे व्यक्तिगत संपति में परिणत होने लगी। अब जो व्यक्ति संपति अर्जित करता था, उस पर अधिकार भी उसी का होने लगा। जाहिर है, भोजन आदि जीवन की आवश्यकताओं को जुटाने का मुख्य कार्य क्योंकि पुरूष करता था इसलिए समाज में धीरे-धीरे उसका प्रभुत्व बढ़ गया। पुरूष द्वारा किया गया बाहर का श्रम जीवन के लिए सबकुछ हो गया। स्त्रियों द्वारा किया गया घरेलू श्रम अनुत्पादकी होने के कारण निर्मूल्य बनकर रह गया। अपनी संपति को मृत्यु के बाद अपनी संतान को ही हस्तांतरित करने की लालसा ने पुरूष के मन में एक पति-पत्नी के सिद्धांत को जन्म दिया। अब नारी पुरूष की प्रमाणिक और शुद्ध संतान उत्पन्न करने के लिए पुरूष के आधिपत्य में आ गयी। इस प्रकार यूथ विवाह की समाप्ति और एकनिष्ठ विवाह के सिद्धांत ने

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

मातृसतात्मक परिवार का अंत कर दिया। वंशावली पिता के नाम से चल पड़ी। यौन संबंध के इस रूप के अनुसार नारी, पुरूष की दासी होती है और पुरूष संपति के तमाम अधिकारी का केन्द्र होने के कारण निरंतर नारी के हितों का विरोध बना रहता है। यहां से नारी की लंबी व्यथा-कथा आरंभ होती है।[2]

प्रागैतिहासिक काल से अभिप्राय उस सुदूर एवं अतीत कालखंड से है जिसके संबंध में किसी सूत्रबद्ध ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि नहीं होती है। ऐसा ही विशाल प्रागैतिहासिक सभ्यता निदर्शन सिन्धु तथा हड़प्पा जैसे स्थानों में उपलब्ध होता है। उनमें प्राप्त अवशेष न केवल उस सभ्यता का भौतिक समृद्धि के परिचायक है, अपितु उसके चतुर्दिक विस्तार का स्पष्ट संकेत करते हैं। भारत की आदिवासी जातियों की संस्कृति का ''चक्षु वै सत्यम्'' साक्षात्कार कराने के कारण तत्कालीन संगीत कला विषयक परिस्थिति का सम्यक दिग्दर्शन इससे संभाव्य है, इसमें संदेह लेश नहीं।[3]

यह सभ्यता ऋग्वेद से प्राचीन है अथवा अर्वाचीन, इस संबंध में मनीषियों में पर्याप्त मतभेद है। सर मार्शल इसे प्राग्वैदिक मानते हैं। डॉ0 मैके, हेवास तथा दीक्षित जैसे पुरातत्वज्ञ इसी मत के अनुयायी हैं। उनके मत से सिन्धु सभ्यता वह श्रृंखला है जो हिन्दू यूरोपीय तथा वैदिक सभ्यता को जोड़ देनेवाली है। राव-बहादुर दीक्षित के मतानुसार वैदिक संस्कृति तथा सिन्धु संस्कृति प्रायः समकालीन है (द्रष्टव्य : प्रि-हिस्टोरिक सिविलाइजेशन ऑफ द इण्डस वैली, पृ0 20-21) राधा कुमुद मुखुर्जी के अनुसार ऋग्वेद में अनार्यों के संबंध में जो विवरण प्राप्त है, उसी का प्रत्यक्ष प्रमाण सिन्धु-सभ्यता में पाया जाता है अतः यह स्पष्ट है कि सिंधु सभ्यता वैदिक सभ्यता से बहुत प्राचीन नहीं तथा दोनों परस्पर सूत्रा में आबद्ध है(द्रष्टव्य : हिन्दू सभ्यता, पृ9 32)। प्रसिद्ध प्राच्य विद्या विशारद लक्ष्मण स्वरूप ऋग्वेदीय आर्यों को सिंधु उपत्यका के आदिवासी तथा सिन्धु सभ्यता के शिल्पी मानते हैं (द्रष्टव्य इंडियन कल्चर, खंड-4, संख्या 2, पृ0 153 पर डॉ0 लक्ष्मण स्वरूप का 'ऋग्वेद एंड मोहनजोदड़ो' शीर्षक निबंध)। डॉ0 बेक के अनुसार यह सभ्यता किसी विदेशी सभ्यता की शाखा नहीं यद्यपि उन संस्कृतियों का प्रभाव इन पर परस्पर संपर्क के फलस्वरूप लक्षित होता है (द्रष्टव्यः हिन्दू सिवलिजेशन राधा कुमुद मुखोपाध्याय)। स्टुअर्ट पिगट इस सभ्यता को मूलतः भारतीय मानने के पक्ष में है यद्यपि वे उसे वैदिक अथवा आर्य संस्कृति से विभिन्न मानते हैं (द्रष्टव्य : प्रि-हिस्टोरिक इंडिया, पृ0 210)। भारतीय अन्वेषकों का प्रायः यही मत है कि सिन्धु सभ्यता को निर्माण करने का श्रेय आर्य अथवा अनार्यों में से किसी एक को नहीं दिया जा सकता (द्रष्टव्य : हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ इंडियन पिपुल-वैदिक एज, खंड 1, 1951, पृ0 167-169 तथा हिन्दू सिविलेजेशन, राधाकुमुद मुखोपाध्याय, पृ0 32 तथा 321-322)[4]

इन सभ्यता का जन्म भारत में हुआ अथवा भारत के बाहर इस संबंध में पुरातत्वज्ञों में तीव्र मतभेद हैं तथापि उत्खननों में उपलब्ध उनका भव्य स्वरूप इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि इस सभ्यता की चरम उन्नति भारतवर्ष में हुई। इसका प्रभाव भारत के अन्यान्य प्रदेशों पर पड़ा हो, यह नितान्त स्वाभाविक है। दक्षिण भारतीय जनता आज भी अपने आपको इसी परंपरा का उत्तराधिकारी मानती है, यह तथ्य उल्लेखनीय है विद्वानों के मत में भारत में उपलब्ध लिंग पूजा तथा शक्तिपूजा के बीज इसी युग में निहित है।

सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध लिंगादि आकृतियों तथा अन्य मूर्तियों से स्पष्ट है कि उनकी धर्म-साधना में मूर्ति पूजा तथा वृक्षादि वस्तुओं की आराधना अंतर्भूत थी। विद्वानों के अनुसार शिवलिंगों से साम्य रखने वाली आकृतियों से स्पष्ट है कि भारत में प्रचलित शैव-परंपरा का प्रवर्तन इसी काल में हो चुका था। मोहनजोदड़ो में एक ध्यान मग्न योगी की मूर्ति उपलब्ध है, जिसमें योगी की दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित है। मृतिका की एक अन्य मुद्रा में एक देवता की मूर्ति योगासन करती हुई अंकित है, जिसमें दोनों ओर सर्पों को अंजलि मुद्रा में स्तवन करते हुए बताया गया है। एक अन्य मूर्ति में तीन मुख तथा तीन नेत्रों का अंकन हुआ है। मूर्ति योगासन की मुद्रा में ही है तथा अन्य पशुओं से परिवेष्टित है। (द्रष्टव्य : हिन्दू सभ्यता)। विचारकों के मत से यह

'पशुपति शिव' का प्राथमिक स्वरूप है। हड़प्पा के उत्खननों में नृत्यरत पुरूष की खंडित मूर्ति उपलब्ध हुयी है। मूर्ति सुघड़ पाषाण से निर्मित है तथा परिष्कार एवं कलात्मकता में अनुपम है। नर्तक का दक्षिण पाद भूमि पर स्थित है तथा वाम पाद नृत्य क्रिया में ऊपर उठाया गया है। नृत्यकला के मर्मज्ञ इस मूर्ति को नटराज शिव का स्वरूप मानते हैं। मूर्ति की खंडित अवस्था के कारण उसमें अंकित अभिनय का यथार्थ परिचय संभाव्य नहीं, तथापि तत्कालीन नृत्य के परिचायक होने के नाते उसका अपार महत्व है। ऐसी मूर्तियों का निर्माण संगीतप्रिय सभ्यता के अंतर्गत ही हो सकता है इसमें संदेह नहीं।[5]

मोहनजोदड़ो में उपलब्ध एक कांस्य की मूर्ति इस निष्कर्ष को प्रमाणित करती है। मूर्ति के निर्माण में सुकोमल नारी का ललित अभिनय अंकित है। नर्तकी का शरीर प्रायः अनावृत अवस्था में है, केश जुड़े में आबद्ध हैं तथा दोनों हाथों में विपुल चूड़ियां अंकित है। दक्षिण पैर एक स्थान पर स्थित है, वाम पैर पादाभिनय में कुछ आगे बढ़ा हुआ है, दक्षिण हस्त दक्षिण कटि पर विन्यस्त है तथा वाम हस्त नीचे की ओर लंबमान है।

मूर्ति की अर्द्धनग्न अवस्था तथा साज-सज्जा को देखकर सर जान मार्शल इसे आदिवासी नारी का नमूना मानते हैं।[6] इसके आकार-प्रकार केश तथा विन्यास को देखकर स्टुअर्ट पिगट इसे दक्षिणी बलूचिस्तानी की कलाकृति मानते हैं (एनशन्ट इंडिया, पृ0 177-78)।

इन कलात्मक आकृतियों से यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन जीवन में संगीत का पर्याप्त प्रचलन था तथा धार्मिक एवं लौकिक समारोहों पर गीत, वाद्य, नृत्य के द्वारा लोगों का मनोरंजन किया जाता था, तथा इस नृत्य में नारी की भी भूमिका होती थी।

साथ ही, सदियों-पूर्व की भारतीय प्रस्तर मूर्तियों को यदि हम बात करते हैं तो लोथल के समान ही प्रभासपट्टन, अपर डेक्कन, नागार्जुनकोंडा, ब्रह्मगिरी, पायानवल्लु आदि अंचलों में खनन से जो सामग्री मिली है, उसके साथ हड़प्पा की संस्कृति का मेल है। हाल में अंबाला के निकट रोपड़ में पुरातत्ववेत्ताओं ने जो खोज की है, उसकी संस्कृति के साथ भी प्रागैतिहासिक हड़प्पा का संबंध है।[7]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की हमारी प्राचीनतम सिंधु-सभ्यता (लगभग 3250 ई0पू0) से बहुत पहले मातुसत्तात्मक व्यवस्था का अंत हो चुका था। नर्तकी का जीवन व्यवहार रूप में प्रायः वारांगना के जीवन से सम्बद्ध होता आया है, इसलिए ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिंधु-सभ्यता में ही नारी का गणिका-रूप आरंभ हो गया था।[8]

संदर्भ सूची

1. गर्ग मुकेश, संगीत (महिला संगीत अंक), आलेख-शोषण और अत्याचार से जूझती नारी और भारतीय संगीत, हाथरस, उ0प्र0, जनवरी-फरवरी, 1986 ई0
2. गर्ग मुकेश, संगीत (महिला संगीत अंक), आलेख-शोषण और अत्याचार से जूझती नारी और भारतीय संगीत, हाथरस, उ0प्र0, जनवरी-फरवरी, 1986 ई0
3. परांजपे डॉ0 शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी, 2006 ई0, पृ0 13-14
4. परांजपे डॉ0 शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी, 2006 ई0, पृ0 13
5. परांजपे डॉ0 शरच्चन्द्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी, 2006 ई0, पृ0 15
6. लाहा डॉ0 नरेन्द्रनाथ, मोहनजोदड़ो एंड इंडस वैली कल्चर शीर्षक, इंडियन स्टोरिकल क्वार्टरली, खंड 8, नं0 1, पृ0 43
7. व्यास मदनलाल, संगीत (त्रैमासिक पत्रिका, महिला संगीत अंक), आलेख-भारतीय संगीत में महिलाओं का योगदान, हाथरस उ0प्र0, जनवरी-फरवरी 1986 ई0, पृ0 17
8. गर्ग मुकेश, संगीत (त्रैमासिक पत्रिका, महिला संगीत अंक), आलेख-भारतीय संगीत में महिलाओं का योगदान, हाथरस उ0प्र0, जनवरी-फरवरी 1986 ई0, पृ0 1

झरनी : मुहर्रम का प्रमुख गीत

डॉ. पुष्पम नारायण

मनुष्य संस्कृति का निर्माता है और उसका सहज संवाहक भी। संस्कृति, संवेदनशीलता की भूमि पर खड़ी होती है। उसके बंध इतने लचीले होते हैं कि किसी भी विजातीय संस्कृति के प्रभावशाली तत्व उसके घेरे में आ सकते हैं। संस्कृति मनुष्य की वह रचना है, जिसमें मानव की सृजनात्मक शक्ति और योग्यता का चरम निहित है। संस्कृति जीवन और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संचय है। संस्कृति में मनुष्य के बाह्य और आंतरिक मूल्यों की अभिव्यंजना होती है। संस्कृति वह जीवन शैली है, जिसे मानव पूर्वजों से ग्रहण करता आया है।

लोकगीतों में मानव सभ्यता एवं संस्कृति के चित्र, इतिहास से भी अधिक सूक्ष्म रूप में अंकित रहते हैं। किसी जाति के विश्वास, धार्मिक विचार, साधारण प्रथाएँ एवं विचार, स्रोतों का संगम स्थल लोकगीत होते हैं। संस्कार, रीति-रिवाज, परम्पराएं एवं प्रथाएं आदि इन लोकगीतों में सुरक्षित रहती है। वस्तुतः लोकगीत निस्संदेह आदिम मानव समाज के ऐतिहासिक महत्व एवं सांस्कृतिक गौरव के सजग प्रहरी है। इसमें विहान की तराश नहीं, मानव संस्कृति का सरल्य तथा व्यापक भावों का रसपूर्ण उभार है। ये निस्संदेह हमारी संस्कृति के मुंह बोलते चित्र हैं।

धार्मिक गीतों का हमारे लोक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। किसी भी देश की सजीवता, समृद्धि और उसके जीवन का ठीक-ठाक अनुमान उसके त्योहारों और उत्सवों से ही लगाया जाता है, जो देश जितना ही अधिक उत्सवप्रिय होगा, उतना ही अधिक सुखी और समृद्ध होगा। हमारा देश सदा से अपने उत्सवों और त्योहारों-मेलों के लिए प्रसिद्ध रहा है। यही उत्सवप्रियता उसके पूर्व गौरव को सूचित करती है। उत्सव और त्योहारों को अधिक रोचक और सफल बनाने में लोकगीतों का विशेष हाथ है। मुहर्रम मुसलमानों का महत्वपूर्ण उत्सव है, मुहर्रम के अवसर पर गाये जाने वाले झरनी गीत के संदर्भ में अपने विचार रख रही हूं।

यह नृत्य गीत मुलसमान पुरूषों द्वारा मुहर्रम के अवसर पर गाया जाता है। मुहर्रम से 15-20 दिन पूर्व से ही लोग एक स्थान पर शाम में एकत्र होकर इसे गाते हैं। दस-बारह पुरूष मंडलाकार होकर खड़े हो जाते हैं। सबके दोनों हाथों में बांस की बनी दो दो झररी होती हैं। सभी एक बार अपनी झररी पर और दूसरी बार बगल वालों की झररी पर अपनी झररी से मारते हुए चारों तरफ झुक झुक कर, झूम-झूमकर वृत्ताकार रूप में गाते हुए घूमते है। झररी के ताल पर ही वे सस्वर गाते हुए चलते हैं। स्वरों के आरोह-अवरोह के अनुरूप ही उनके चरण उठते और गिरते हैं। गीत और गति, स्वर और संचरण का वस्तुतः एक अपूर्व मणि-कांचन संयोग दीख पड़ता है। यह नृत्य गीत अत्यंत संतुलित ढंग से गत्यात्मक हुआ करता है। हर गीत में संगीत हुआ करता है। संगीत और नृत्य के प्रशिक्षण के अभाव में भी इन भोले भाले ग्रामीण पुरूषों के नृत्य गीत अत्यंत मनोहारी होते हैं।

यह गीत प्रश्नोत्तर शैली में पाया जाता है। गीत की एक कड़ी को पहले एक दल कहता है,

---

एसोसिएट प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

फिर उसी को दूसरा दल दुहराता है। इस प्रकार नृत्य और गीत साथ साथ चला करते हैं। यह गीत इतना मार्मिक तथा श्रुति मधुर होता है कि हिंदू युवक भी इसमें सम्मिलित हो जाते हैं और तल्लीनता के साथ गीत गाकर रसास्वादन करते हैं। यही तो लोकमानस की विशेषता है। वह जाति-पांति की दीवाल को ढाहकर सब को एकसूत्रता के बंधन में बांध देता है। इसे 'मर्सिया गीत' कह सकते हैं। इसमें हसन-हुसैन की वीरता, युद्ध एवं उनकी मृत्यु का बड़ा ही करूण और मार्मिक वर्णन रहता है।

हिन्दुओं के अलावे मुसलमानों के भी विभिन्न पर्व-त्योहार सालों भर बिहार में मनाये जाते हैं। त्योहारों के अवसर पर लोग जाति-पाति और आपसी भेदभाव की संकीर्ण सीमा से उठकर जीवन के मधुर क्षणों का खुलकर आस्वादन करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि पर्व त्योहारों ने बिहारवासियों के लोकजीवन को एक भावात्मक एकता के सूत्र में बांध दिया है।

झरनी गीत

हाय हाय कौने रंग मुंगिया कौने रंग मोतिया
कौने रंग ननदी तोरे भैये हाय
हाय हाय लाले रंग मुंगिया सबुज रंग मोतिया
गोरे रंग ननदी तोरे भैये हाय
हाय हाय कहाँ सोभय मुंगिया कहाँ रे शोभे मोतिया
कहमा शोभय ननदी तोहर भैये हाय
हाय हाय कहाँ गिरइ मुंगिया कहाँ रे गिरइ मोतिया
कहमा गिरे ननदी तोहर भैये हाय
हाय हाय घरे गिरे मुंगिया ओसरबे गिरे मोतिया
पलगें गिरे ननदी तोहर भैये हाय
हाय हाय टूटि जेतइ मुंगिया छिटकि जेतइ मोतिया
रूसि रहतै ननदी तोहर भैये हाय
हाय हाय बिछि लेबइ मुंगिया समेटि लेबै मोतिया
बौंसि लेबै ननदी तोहर भैये हाय।

स्वरलिपि

	- - प प
	- - हा य
मप मग रेग सारे	म म प प
हाऽ ऽऽ ऽऽ ऽय	कौ ने रं ग
म ग रेसा -	सा सा रे रे
मुं गि याऽ ऽ	कौ ने रं ग
सा सानि ध़ -	ध़ सा सा सा
मो तिऽ या ऽ	कौ ने रं ग
सासा सा रे- रेरे	रे - गरे सा
नन दी तोऽ हर	भै ऽ येऽ ऽ
सा - - सा	म म म म
हा ऽ हा य	कौ ने रं ग
मम म म म	म - - -
नन दी तो रे	भै ऽ ये ऽ
म सा- - -	ध ध - -
हा यऽ ऽ ऽ	कौ ने रं ग
धध प म- म	म - ग रे
नन दी तोऽ र	भै ऽ ये ऽ
ग- प प प	
हाऽ य हा य	
x	0

स्वरों का चलन : सा - रे म म - प - - म ग रे सा - सा रे सा नि ध़ प़ - - ध़ सा - - रे ग ग - रे रे सा।

झरनी गीत के इस प्रभेद में स्थायी धुन का ही प्रयोग है। अतः गीत के शेष चरण उपर्युक्त स्वरलिपियों के अनुरूप स्थायी में ही गेय है। इस धुन में कोमल निषाद सहित शुद्ध स्वरों का प्रयोग है। ताल वाद्य की संगति होने पर ताल कहरवा (द्रुत) उपयुक्त है।

झरनी गीत :

हाये जी के जेतै हाजीपुर के जेतै पटना
के जेतै बेतिये सहरवे जी
हाये जी भैया हाजीपुर बाबा जेतै पटना
सैयद गेलै बेतिये सहरिये जी
हाये जी के अनतै सोहा साड़ी के अनतै कंगना
के अनतै सिर के सिन्दूरवे जी

हाये जी भैया अनतै सोहा साड़ी बाबा अनतै कंगना
सैयद अनतै सिर के सिन्दूरवे जी
हाये जी फाटि जेतै सोहा साड़ी फुटि जेतै कंगना
मेटि जेतै सिर के सिन्दूरवे जी।

स्वरलिपि

	- - सा रे
	- - हा य
ग - रेसा रे	ग - - -
जी ऽ ऽऽ ऽ	के ऽ जे तै
रे रेग रे सा	सा - रे रे
हा जीऽ पु र	के ऽ जे तै
सा सा- ध़ -	ध़ - सा सा
प टऽ ना ऽ	के ऽ जे तै
सा सा रे सारे	ग ग रे -
बे ति ये सऽ	ह र वे ऽ
सा - सा रे	
जी ऽ हा य	
x	0

स्वरों का चलन : सा - रे ग - - सा रे - - ग - ग रे ग रे सा - - ध़ ध़ प़ - ध़ ध़ सा - - - रे ग रे सा सा।

झरनी गीत के इस प्रभेद में स्थायी धुन का ही प्रयोग है। अतः गीत के शेष चरण उपर्युक्त स्वरलिपियों के अनुरूप स्थायी में ही गेय है। इस गीत में सभी शुद्ध स्वरों का प्रयोग है। ताल वाद्य की संगति होने पर ताल कहरवा उपयुक्त है।

संदर्भ सूची :

1. Mishra Dr. J.K., History of Maithili Literature, Vol. I, Tirbhukti Publication, Allahabad, 1949, P. 25

Religious Expressions in Mithila Painting

Dr. Kamal Dev

Mithila is known to be the repository of great religions like different sects of Hinduism, Buddhism and its voeval Jainism. But during the coures of time Buddhism and Jainism collapsed in medieval Mithila and Hinduism emerged as the strongest religion. The four cults of Hinduism which were profound in medieval Mithila were Vaishnavism, Shaivism, Shaktism and Tantricism. These quadruple religious cults were ubiquitous in Mithila and there presence can be observed in every ceremony and ritual. Mithila painting which is an important part of the cultural activities, is also influenced by these quadruple religious cults. It will be worthwhile to note here that Tantricism rules the trinity i.e., Shaivism, Vaishnavism and Shaktism including Buddhism. The reason behind pervasiveness of these trinity was association of Mithila with Tantric belief and practices. No doubt, Tantricism was the Lokdarma of Mithila. Behind these forces, there was a multiplicity of gods and goddesses in the religious life of Mithila. Surya, Chandra, Dikpalas, Hanumana, Gramdevatas, Kamala, Ganga and many others were equally worshiped. The sun image of the temple of Bhavadditya at Kandaha (Saharasa) is an evidence of the fact that Sun worship had attained immense importance in the land of Mithila,[1] The sacerdotal influence on the people of Mithila in every aspects of life was predominant. The religious outlook of people of medieval Mithila can be gleaned through a number of disquisitions on religious rites, social beliefs, rituals etc. which are reflected in Mithila folk paintings. The present paper is an attempt to trace the religious expressions in the folk paintings of medieval Mithila.

Tantricism can be defined as the repository of esoteric beliefs and practices[2] or Tantricism could be described as a system, or as a mystical act that claims to be able to unite man with the cosmos[3] Tantricism mainly revolves around Shiva and Shakti, the primordial male and female. Mithila has been one of the important centers of Shakti worship and Tantric culture. The land of Mithila was considered as one of the important Shaktipithas of India. The influence of Tantricism on Mithila culture is much deeper than is actually understood. The intimate connection between Tantricism and Mithila culture is evidenced by Mithila painting. For example Kohbar, which is closely connected with fertility organs and according to the theories of Tantricism,

Chairperson, Child Welfare Deptt. Darbhanga

goods descend to take there place in these diagrams.[4] The symbols, such as circles, lines etc. used in Mithila painting are associated with Tantric belief. One of the most epoch-making thing of Tantricism is that, it unites whole Mithila, because it is no respecter of cast or sex distinctiveness, quintessentially a woman can also be a Guru in Tantric performances. Yves Vequad says, "Tantricism is like any other ethical system, everyone gets out of it what he looks for. At its lowest level there is superstition; at its highest, the self mastery of Yoga and the insistence on the supremacy of intuition. The goddess Kali, consort and energy of Shiva, is the patroness of rituals in which the faithful participate while red-robed priests drink preparation of bhanga, ganja or palm wine and eat meat, thus celebrating mystery of life."[5]

In association with Tantricism Shaivism was most widespread in Mithila and popularity of Vidyapati's Nacharis and Maheshvanis is evidence of the fact.[8] Dharmendra Kumar says, "The synthetic and heterogeneous character of Shaivism made it the religion of masses and Mithila became the significant stronghold since early period of its history"[7]. The presence of Shiva temples in almost all villages certainly point to the great place that Shiva occupied in the hearts of the people of this region. Shiva has been widely represented in various forms in Mithila paintings for example Shiva Panchavakta, Siva of five faces, Androgynous Shiva, symbolizing union of matter and energy and many others. In nutshell, Shaivism has been the most dominant and popular religious faith since very early times.

Behind Shaivism, Shaktism was also prominent religious credence of Mithila, the pervasiveness of which remains even today. As discussed earlier, Mithila has been one of the important centers of Shakti worship. Mithila was considered as one of the important Shaktipithas of India. Shakti has enormous countenance and is worshiped as various forms such as Durga, Kali, Lakshmi, Saraswati, Uma and many others. In upper and middle caste Hindu families al sacred rituals are performed with the defication of mother goddess. We can easily make an observation that, Shaktism is associated with both Shaivism and Vaishavism. Shaktism is associated with Shaivism, as, both Shiva and Shakti are considered as primordial male and female. And it is associated with Vaishnavism in form of Lakshmi, the goddess of wealth and various other forms. The widespread of Shaktism can easily be depicted in Mithila paintings as Shaktism in Mithila painting designate feminism, paintings such as, Mahishasur Mardni showing Kali killing demon, Mahishasur and many others quintessentially point out to this.

Though Shaivism and Shaktism were predominant in Mithila, Vaishnavism was no less important. Mithila corroborated to be fecund for the accretion of Vaishnavism. The presence of beautiful stone pieces popularly known as Shaligrama in Gandak river is worshiped by the people of Mithila which adamantly point out to its popularity and antiquities. Vaishnava festivals, rich and long tradition of Vaishnavite Maithili songs and also its impact in Mithila paintings point to the gargantuan influence and great popularity of Vaishnavism in religious life of Mithila. According to the

text to Vedas, Vishnu is considered as well wisher of human race and has come to earth many times when men needed him in distress. His famous avataras Rama and Krishna has acquired special place in the hearts of the people of Mithila. In short, religious life of people of Mithila is abridged without Vaishnavism.

Mithila is the land of traditions and Mithila painting is an important part of it. Everyone is free to interpret his ideas in Mithila paintings in his/her own light. It is chiefly associated with the environment, tantricism, rites and rituals and the mythology prevailed in Mithila. As Mithila is rich in environment, its reflection in Mithila painting can easily be seen. Any painting is abridged without flora and fauna. Whatever theme may be, the background of paintings are decorated by trees, plants, shrubs, flowers, creepers, branches, leaves, animals and birds. For different occasions and ceremonies, Mithila paintings relevant for each occasion are made, eg, most popular form of Mithila painting is Kohbar. Likewise to avoid ill-winds and evil spirits, the female members of the family use different signs and symbols influenced by Tantricism on the frontal wall of the house. But the most popular themes of the Mithila paintings are associated with mythology. Dasavatar, Navdurga, Rashlila, Radha-Krishna, Ram-Janki wedding ceremony. Dhanush Yojna and various Pauranic legends occupy prominent place in Mithila folk painting. Mithila painting is made differently by various social groups of Mithila such as Brahmanas, Kayasthas, other backward communities and the dalits make there paintings with certain caste variants.

Traditionally, the women in the villages used cotton attached to the end of a bamboo splint to apply colours. Colours were also prepared by them and natural colours were used in the paintings. But gradually the brush and holder took the place of cotton and bamboo splint. Likewise, natural colours are displaced by fabricated and artificial colours. But the subject matter, themes and style of Mithila painting is still unchanged inspite of the present phase of globalization.

Illustrations :-

1. Swastika, it is an auspicious sign, which means safety and protection.

2. Dasavatar, this painting shows ten avataras of Vishnu. According to the ancient texts, he took these avataras to come to earth to rescue human race. This painting includes Rama with bow and Krishna fluting.

3. The child Krishna, his mischievousness and games won the heart of his followers; there are numerous stories of how he stoled Makhan (cream). On the right of this picture a woman is peeping inside the room and watching Krishna and his friends who are stealing cream. The woman is wearing traditional sari and ornaments.

4. Rashila, Krishna is also considered as good of love and in this painting Krishna is surrounded by Gopis. Krishna is always represented with his flute. His circular face depicts complete beauty.

5. Androgyonus Shiva, this image is greatly influenced by trantricism as it shows the union of matter and energy. Half of its image is Shiva and another half is Shakti.

6. Shiva Panchavakta, Shiva of five faces. He is accompanied by his wife Parvati and his follower the bull Nandi. He is sitting on the skin of lion and his hairs top knot carries moon.

7. Chinnamasta, this painting shows the decapitated Kali, she feeds on her o wn blood, as two others of her aspects are quenching. The couple beneath her feet are the originating couples from whom al creation springs but which she mocks, being herself the unique source of everything.

8. Kohbar, it is chiefly influenced by tantricism as it is connected with fertility organs and all gods descend to take there place in these paintings to bless newly married couple. It consists of tortoise (a avatar of Vishnu), parrots known as love birds, fishes & all nine planets. In nutshell, the whole universe participate in the marriage and they all give there blessings and good luck to new bride and groom.

9. Ram-Janaki wedding ceremony, with the presence of Brahma, Vishnu and Shiva, Sun and the Moon, Sita hands a garland of flower to Rama while her father Janaka stands behind her. Rama is accompanied by his faithful brother Lakshmana and the Acharya.[8]

References :-

1. Chowdhary Radhakrishna , Mithila in the Age of Vidyapati, Varanasi, 1976, P. 302.
2. Ibid, P. 310
3. Vequad Yves, The Part of Mithila, London, 1977, P. 13
4. Chowdhary R.K., op. cit. P. 313
5. Vequad Yves, The Part of Mithila, London, 1977, P. 15
6. Chowdhary R.K., op. cit. P. 302
7. Kumar Dharmendra, Mithila Miscellany Darbhanga, 2005, P. 39
8. Vequad Yves, All illustrations, Courtsey op. Cit.

Taal and Tabla - A Perspective Analysis

Dr. Shyam Mohan

There is something in the nature of human being that responds to 'taal' more naturally than to 'Swara', Taal is, in fact, part of the organism, in the heart beat and the pulsations of living things. So physiology itself comes to the aid of making taal. Tall is some how more complex and more subtle than rhythm with which it is commonly confused. The difference between the two is easy to distinguish if we watch an audience listening to say. Pt. Shiv Kumar Sharma and Ustad Zakir Hussain or Pt. Hari Praad Chaurasia and Pt. Anindo Chatterjee and a Jazz combo, in the first case the excitement is largely intellectual, almost cerebral. Of course, the audience keep time with their hands ans with other gestures but it watches performance with baited breath. The sighings and the mutterings and the shaking of heads are not the reactions to rhythm. The interplay ot Tall with the musical phrases, the mathematical division of time into slices of halves and thirds and fifths, the collisions of syllable and feet with metre, that are sometimes ecstatic recognitions of the temporal freedom and creativity of music against the inevitability of time. In comparison how innocent and how much less demanding Jazz sounds. You swing of jerk with it and at once you reach the seventh heaven of animal delight. It will never strike and audience listening to Indian classical musicians to get up and dance even with a sizzling Dadra or a leaping Keherwa. The Taal is an internal and personal thing just as Swara is. In the Indian system there are two district elements. First the raga has a direction and then the composition fitted to a Taal. The composition has a two fold movement incorporated in it. One of these motions is the Taal, which lies within the composition and the other is the composite motion of the raga. The late Ustad Bade Ghulam Ali Khan used to describe this two-fold motion by likening the raga to a river flowing in one direction timelessly to the sea and composition set to a Taal to a boat crossing it from one bank to the other. The type of boat is a combination of a tall and the metrical and literary nature of the composition and the raga is the medium in which it has its being. The passage can be slow or vilambit or Madhya or medium rempo or drut or fast.

Tabla is the most important percusion instrument of North India which is a modification of the ancient instrument Mridanga. The Tabla is practically a Mridana divided into two parts. One of the drums, played with the fingers of right hand in general, (There are a few players with left hand fingers) is called Tabla and the other played with the left hand in general is called Bayan. The body of the

tabla is scooped out of a barrel shaped piece of wood and bayan, the brass drum, is of the shape of a cup made of terra cotta or brass.

These days playing of Tabla solos has become very popular. But in a performance of vocal & instrumental music and dance, Tabla has a subordinate role to play. The tempo and divisions of bars of the beat cycle is determined by the theme of the musical comosition. There may be different types of distribution of beat cycles. Some examples of the different beat cycles used in North Indian music are as below :-

1. Tritaal or Teentaal as 4 + 4 + 4 + 4 - -16 beats divided Mataras

2. Tilvada - 4 + 4 + 4 + 4- do -

3. Chautaal - 2 + 2 + 2 + 2 + 2 + 2 - do -

4. Ek taal - 2 + 2 + 2 + 2 + 2 + 2 - do -

5. Jhaap taal - 2 + 3 + 2 + 3 - do -

6. Roopak taal - 3 + 2 + 2 - do -

7. Dhamar taal - 5 + 2 + 3 + 4 - do -

8. Deep Chandi taal - 3 + 4 + 3 + 4 - do -

9. Jhumra taal - 3 + 4 + 3 + 4 - do -

Examples of simpler forms of beat cycles are Dadra - 3 + 4 & Kaharwa - 4 + 4 of all the positions in the cycle or avartan there are two which are of great significance - Sama & Khali. The Sama is the first beat of the taal. It is the most emphatic of all strokes, as it commences the cycle. The Sama is so important musically as well as asthetically that listeners will respond, quite vocally with exclamations of approval, when the preformer arrives at the Sama with dexterity after cycles of improvisations.

The next in order of rhythmic centricity is Khali. It is shown usually by a wave of the hand, without giving an audible beat. The drummer shows the 'Sama' by a hard stroke and the Khali by a soft one and the main performer often takes this as a cue for keeping to the taal.

The basic units for forming the rhythmic patterns are different types or characteristic sounds produced by different ways of striking the two drums. These units are represented by symbols like Dha, Dhin, Ta, Na, Kat etc. which are like morphemes (without any meaning) which form sentences of rhythmic patterns on the Tabla. One example of a pattern set on teen taal is as follows :-

1(+) 2 3 4
Kat tete thun tete gadi ghene nage

5 6
Tete ghene tete kete tak tate kete tak

7 8 9 10
Tak kran dha tete kete dhet rake (hana)

11 12 13 14
Dha dha tete keta dhet take nasa dha dha

16 1(+)
Tete kete dhet take nasa dha

The Spiritual & Philosophical aspects of Carnatik Music with special reference to Purandara dasar & Tyagaraja Swami

Dr.K.Sashi Kumar

India has a rich and diverse philosophical tradition dating back to the composition of the Upanishad in the later Vedic period . Human mind finds music as a healing object and thus shows a positive response to it . Even though music is intangible ,Music is a vehicle for the human expression both from musician to the listener.

Tremendous efforts where taken by a musician to create his own music in various ways by singing , playing instruments or even by composing . If the primary person(musician) is not able to have swanubhava (with real expression) , he cant transmit the music to the listener .

The Bhakti movement was infused with several saint singers of South India. They have expressed their high philosophical thoughts through their musical compositions, which is highly notable of their Spiritual creation .The Sangitha Pithamaha Saint Purandara Dasa and Saint Thyagaraja are the real saint singers of Carnatik Music . Both these men belonged to the line of Saint-musicians, who influenced the masses for their moral and spiritual upliftment through the medium of their musical compositions. Both of them have emphasized that bhakti without sincerity of devotion is meaningless. The spiritual and philosophical contents of their krithis are often compared to the Upanishads. Saint Purandara Dasa was a great gods devotee ,a very good musician and a great composer. It is believed that Dasa is an avatar of Narada Muni. His compositions are set in simple words which exude bhakti, common sense and philosophy and which have universal appeal. He was a pioneer and creative genius. His contributions to Carnatik music are immense. He adopted 'Malavagoula' (later changed to 'Mayamalavagoula') which is equal to bhairav that in Hindustani Music. Mayamalava gaula raga is very easy for beginners to learn the basics swara exercises of Carnatik music. He also composed various swaralankars like Sarali varisas , Janta varisas, Melstayi & Mandra stayis, Sapta Tala Alankaras etc.He composed several thousands of krithis. Unfortunately,very few of them are available to us. It is incredible that even four centuries later, Purandara

Reader in Instrument, Music & Performing Arts Faculty, B.H.U., Varanashi.

Dasa's teaching models have been handed down to us with no variation! His immense contributions to music have earned him the recognition as the Sangeetha Pitamaha-the grandsire of Carnatic music.

Purandara Dasa and Thyagaraja lived almost three centuries apart, it is interesting to compare their lives, their contributions to music and philosophical thoughts. Purandaradasa was devoted to worship of Lord Narayana and Thyagaraja was influenced by Lord Rama. Both of them had darshan of their beloved god. Thyagaraja was influenced by the music of Purandara Dasa and other great savants. Thyagaraja has paid tribute to Purandara Dasa in his 'Prahlada bhakti vijayam". His unswerving devotion to Rama is demonstrated through emotional outpourings in many of his kritis. His compositions are simple but laden with bhakti and philosophy which caught the appeal of many music lovers. Thyagaraja's krithis reached the height of perfection. He was instrumental in developing several new ragas, which were used in his compositions. One outstanding feature of Thyagaraja's krithis is its inherent scope for adding sangatis eg: Dorakuna itu vanti (Bilahari) and Dharani telusu (Shudda saveri).

Both composers were Similar in their thought .While these musical geniuses (Purandara Dasa and Thyagaraja) lived almost three centuries apart, it is interesting to compare their lives, their contributions to music and philosophical thoughts. There are several parallels in their lives. Both Purandara Dasa and Thyagaraja were pious, saintly and great devotees of Krishna and Rama respectively. The lyrics of their krithis were simple, but with high philosophical and spiritual contents. Both were musical prodigies who disliked royal patronages and gifts. They avoided 'narastuthi' or praising of mortals. Both of them avoided their regional kings offer. Puranadaras refused the the king of Vijaya nagar & Thyagaraja refused the invitations from Tanjavur Maharaja and other Kings of Travancore and Mysore . Both of them lived to popularize the Bhakti cult.

In Purandara Dasa's krithi 'Namma bhagya doddado,Nimma bhagya doddado', he feels more blessed because of the Lord's protection compared to the King, who has just material possessions. In another krithi,' Antarangadalli Hariya kaanadava', Purandara Dasa explains the same concept 'Narara sevisa bedavo endendigu' , while Thyagaraja says in his 'Nidhi chala sukhama, Ramuni sannidhi seva sukhama', that he does not need anybody's blessings but Rama's.

Purandara Dasa and Thyagaraja have expressed their thoughts and feelings on other aspects of life as well. Purandara Dasa says regarding music in his composition 'Talabeku takka mela beku' and Thyagaraja has similar ideas in his kriti 'Sogasuga mrudanga talamu' (basic details of an ideal krithi).

The lyrics of 'Sakala tirtha yaatreya maadidante nikhila punyada phalavu' in Purandara Dasa's kriti 'Smarane onde saalade' means one should always think god. Same expressions in Thyagaraja's kriti 'Dhyaaname varamaina Ganga snaanamu' (Plunging in holy waters will not purify from the sins of deceit). To focus one's mind to the devotion of the Lord, the words used by both Purandara Dasa and Thyagaraja in their krithis are almost identical.

Even though there are several examples where the thoughts of these two saints goes similar. A few of them are mentioned below

- Mosahodenallo naanu (Purandara Dasa) and Mosabegu vinave satsahavasamu (Thyagaraja) (Do not get deceived by not thinking of God)
- Manuja sharira enu sukha (Purandara Dasa) and Pranamuleni vaaniki bangaru baaga jutti in Bhakti beecha meeyave (Thyagaraja) (Praise the Lord to get eternal bliss)
- Saamanyavalla Sri Hariye seve (Purandara Dasa) and Adi gadu bhajana manasa (Thyagaraja) (false pretence is no bhajana at all) Daasana madiko enna (Purandara Dasa) and Meluko Dayaanidhi (Thyagaraja)(Accept me as your own devotee)
- Idu bhaagya,Padumanabha paada bhajana sukhavayya (Purandara Dasa) and Ide bhaagya gaka,yemi yunnadira ,Rama (Thyagaraja) (blessed is the one who worships God sincerely)
- Kaliyuga dalli Hari naama (Purandara Dasa) and Padavini sadbhakti galkude (Thyagaraja) (only true devotion to God can bring a status of value)
- Raama naama paayasakke Krishna naama sakkare(Purandara Dasa) and Raama kathaa sudha rasa paanamu (Thyagaraja) (Drink the divine nectar)
- Dharma shravana yetake (Purandara Dasa) and Chevitiki-yupadeshinchi natu gaado (Thyagaraja) (Worship of God is more important than other trivial pursuits)

The contributions of these two composers to the field of Carnatik Music are enormous. There are so many other composers are also there in this category in the field of Carnatic Music.

References :

South Indian Music Book by Prof. Sabamoorthy

Spiritual heritage of Thygaraja by Prof. Sabamoorthy

Great composers by Porf.Sambamoorthy

Various web information : The Trend Setters in Carnatik Music –by Ashok

: The history of Carnatik Music

Origin and Development of Folk Songs in Nepal

Kumar Neupane 'Sargam'

HISTORY:

Nepal is a small Himalayan country having a long history before emerging as a single nation. The designation Nepal was largely applied for Kathmandu valley which was a big lake and it is believed that the water was drawn down by the Manjushree, the monk. Before the reunification, the country was divided into several small regional state ruled by different Ruler accordingly. The cultural diverse nation has a long history early from the ancient era to Vedic era. The fossil of 'Ramapithecus", ancestor of modern human, was found in Nepal which was similar of fossil found in India, china, Kenya and Pakistan.

The Himalayan nation was re-unified latter half of the eighteen century by the great king Prithvi Narayan Shah. The nation was independence in 1950 after 104 years dictatorship of Rana Regime and democracy has been established. The democracy again suffers at the early stage because of the band on political party and established autocracy by the king and come on power. 30 years autocracy was dissolved in 1990 after a huge protest against the king. In 2006 the country recognized as a federal republic Himalayan nation after the throne of king.

GEOGRAPHY:

Nepal is a landlocked country situated in between the two huge neighboring county India and china. The frame of Nepal was limited and constant after the treaty with East India Company in 1851 and the protocol sign with china in 1798. It is situated 26.22 degree to 30.17 degree longitude and 80.4 degree to 88.12 degree latitude. The approximate distance from east to west is 885sq km and 130 sq km to 240 sq km from south to north. The total area covers by the country is 1, 47,181 sq km, which is 0.03% of Asian continent and 0.3% of the total land of the world. The southern border of Nepal is Bihar and Uttar Pradesh, eastern is West Bengal and Sikkim, and western part is of Uttarakhanda of India and the northern part is Tibet of China. Nepal is a multi cultural and multi linguistic secular country lies almost 17 mile far from Bangladesh and 80 mile from Bhutan. The Headquarter of the SAARC is in Kathmandu which is also the Capital of the Himalayan Nation.

The frame of the Nepal is not too big but sociological, economical and cultural variation makes the nation large.

Research Scholar, Music & Performing Arts Faculty, B.H.U., Varanashi.

According to the geography Nepal can be divided in three different regions:

a) HIMALAYAN REGION
b) HILLY REGION
c) TERAI / PLAIN REGION

HIMALAYAN REGION:

The upper most belt of the Nepal spread from east to west and covers mostly by snow is called Himalayan region. It covers 15%of the total land of the country and starts from 16000ft from the sea level. All world famous mountain lies in this region including Mount Everest, the highest peak of the world. Narrow paths, small valleys and mountains are the attractive things of this region. 7% of the national population lives in this part.

People from this region wear woolen clothes. The climate is always fair and freezing cold goes in negative mostly in winter. The large number of **Sherpas'** lives followed by **Bhote** and **Leptcha**. The languages they speak are **Sherpali**, and **Bhote** of Tibeto-Burman category.

The very famous regional song of this region is **Shebru**. These people are of Buddhist community and celebrate the festival and tradition according to Buddhist calendar. **Mask dance, maiyu, loshar** are some other regional music of this region. People of these communities sing a song in festivals, ceremonies and other special functions

HILLY REGION:

The central region of Nepal lies from east to west above 3000ft from sea level is the hilly region. Its width is 20 miles from south to north and gradually increase from east to west. Big Hills, peninsulas, valleys and the green forest are the beauties of the hills. The total land covered by this region is 67% and 44 % of the national population resides in this part. Headquarters of the all five development region also lies in this region.

Different communities of people lives in this region with various believe tradition and religion. The ethnic groups and tribe like **Newar, Gurung, Magar, Tamang, Rai, Limbu, Kirat** and other casts like **Brahman** and **Chhetrya** largely resides here. Mostly the Hindu culture has been adopting here followed by some Buddhist and other.

This region is very flourishing in cultural diversity. A mixture of people from various communities aromatized the garden. The very famous folk songs of this region **are Rodi of Gurung, Chandi of Brahman, Basanta and Fagu of Newar, Selo of Tamang, Dhan nach of Limbu, and other folk songs are Gaine, Deuda, Maruni , Jhauri, Dohari, Rattauli, Deusi-vailo, teej geet, Balan Sorathi ,Sangani** and other many. People celebrate and enjoy the festivals, marriage ceremony, **jatras** and some special organization with these folk songs with dances and music. Dashain, the nine days long worship of goddess **Durga, and Dipwali** are the major festival of the hills. Nepali is widely spoken as a major language and other several mother tongues of different communities are also spoken.

TERAI REGION :

The southern belt of width 16 -20 miles spread from east to west and below 1000ft height from the sea level is called the large plain or the Terai region. The large land field of Ganges basin lays in Nepal is the granary of Himalayan nation. 17% of the total land is covered by terai

region with the 48% of total national population. Terai is the gate-way to Nepal from any other country by roadways except china.

Agriculture is the main occupation of terai and large number of big industries are changing the structure and also emerging as an industrial region. The climate is tropical even very warm in summer. People wear light clothes and the main languages are **maithali, Awadhi, Tharu, Rajbansi,** and **Bhojpuri**. Nepali is also spoken as a medium language. According to the culture and linguist basis terai can be sub divided into four regions

a) Maithali
b) Bhojpuri
c) Awadhi/Tharu
d) Rajbansi

Terai is also a multi cultural and multi linguistic region having a huge diversity. Large numbers of migrants are migrating in terai from different part of the nation and the influence of cross-border culture tang the versatility. Different communities from Himalaya to hills to terai make a mixture of cross-communal culture. Here, all types of regional songs can be finding somehow in its original forms or in fusion forms.

The main regional songs of terai are songs of **Bhopuri, Baramasa , Maithali, Chachar. Tharu Geet, Bethi...** etc. these types of songs are generally sing in any festivals, gathering, birth ceremony, death procession, and other special organization. Some other ethnical and tribal songs can be found in Terai.

POLITICAL DIVISION:

Federal republic country Nepal is politically divided into 5 development regions, eastern region, central region, western region, mid-western region and far-western region, 14 zones and 75 districts. The constitution of the nation is under drafting by the 601 members of constitutional assembly.

ORIGIN AND DEVELOPMENT OF FOLK SONGS IN NEPAL

The entire feeling of human psychology is Arts. The intelligence inside the human and cultural aspect makes the arts to form. Music is the best among all fine arts because of its creativity, feelings and sensibility; moreover it is only the medium to express feelings in a melody. From the very beginning of human civilization , culture and fine arts both are inter-related, that's why no languages , no religions, no geographical boundary can separate the entire human feelings . Arts and culture are the ornaments of the nations.

From the very beginning of human civilization mankind and music is inter-related. All the music classical to pop to modern is somehow inspired by the folk or traditional music. In the process of development humans learns to sing, play instruments or dance by the natural phenomenon. Learning from the sound produce by animals, birds, wind or nature humans create different melodies, instrument or dance for entertaining either for themselves or for the gods or theirs masters, and that music which we called a traditional folk music.

Taking on the point of view on folk music firstly we have to understand what is the term the folk music stands for..? The folk or the regional music originated in such a place delectated to the soil and fragrance the surrounding of those culture and tradition. In the other sense, the folk **'Lok'** in Hindi means place where different community lives with their own

tradition, lifestyle or culture. And the folk music means the combination of songs, dance or instrument representing the ethnography either of tribe or the others. The traditional folk music also includes most indigenous music .however, despite the assembly of an enormous body of work over some two centuries; there is no certain definition of what folk music. Folk music tends to have certain characteristics but it cannot clearly be differentiated in purely musical terms. One meaning often gives on that of 'Old' songs with no known composers. Another is that of music that has been submitted to an evolutionary process of oral transmission ,the fashioning and re-fashioning of the music by the community that give it its folk character .such definition depends upon cultural process rather than abstract musical type..' upon continuity and oral transmission seen characterizing one side of the cultural dichotomy ,the other side of which is found not only in the lower layers of feudal ,capitalist and some oriental societies but also in the primitive societies and in part of popular cultures one widely used definition is, folk music is what that people sing.

Folk song is the finest among all folk arts or the verbal tradition to explain the entire feelings with the help of folk literature either of meaningful or meaningless. Folk songs can be compared as the bubbles in the rivers rise without any hindrance or like the nature which silently explain the beauty in each and every change. Thus folk music and songs also travelled a millions of years to come on this stage. Folk songs are the songs of society for the society. According to M. Boure and Ethu Dacer, humankind learns music by means of nature, birds, animals; they applied music as a prayer to the hidden power or the changing phenomena of the nature. Clapping or repetition of words or hitting some hard object by means of any object or hand produce the sound and melody later on became the folk music or folk songs. Lomax and Lomax say that folk music develops like the civilization and rooted huge. He says folk songs develop later than the music or instrument.

Nepal is the mixture of more than 52 tribal and ethnic groups with other generals'. The cultural diversity signified the folk songs and its importance. The progress and preservation on the field of folk music was just start after the establishment of democracy in 1950. Broadcasting and publishing of the folk songs starts after the foundation of Radio Nepal in 1951-52. Recording of rare songs of a range of communities preserves the oral tradition in the form of tape. Some Merits as well as de-merits are the factors of the recording. Radio magnify the frame of folk music not only to the particular place even, the people from eastern region can listen the folk songs of far-western region or vice-versa. People of one community know the songs and music of other community of very far. The new inventions in the field of sound and technology and starting of Nepal television in 1984, Nepalese folk music genre create a new chapter.

At present folk music is taught under the syllabus of Kathmandu University, Tribhuvan University and its affiliated colleges. Many institutions and academic institutions recognized music as an academic subject. Slowly and slowly people knows that music is also a subject to study. The increasing numbers of academically qualified personnel help to

discover the hidden things behind the music, songs, and the society.

OBJECTIVE OF FOLK SONGS

Basically all the fine arts are applied to fascinate the entire human psychology. The term folk is directly connected with the society or the community so, the basic fundamental of the folk song is to entertain with people or express the innermost feeling to someone special with love or misery or frustration or hatred. The objectives of folk songs are also to pray the nature or god or the power somehow according to the belief, tradition or ritual.

CLASSIFICATION OF FOLK SONGS

Folk songs can be classified in different headings according to language, caste, literature, place, religion and many.. The intellectual worked in the field of folk music or folk songs classified the folks songs in such a way that all the songs of various communities come under the single umbrella. Here are some chapters in which all the folks songs can be classified in different sub heading.

a) Religious Songs
b) Rituals songs
c) Seasonal songs
d) Bravery songs
e) Love songs
f) Sad songs

The folk songs can also be classified according to the aesthetics, literature and participation. According to **Subhi Shah Nepali *LOK Geet*** can be classified as:

a) Ceremonial songs
b) Religious songs
c) Rituals songs
d) Seasonal songs

According to **Tulsi Prajuli** Nepalese folk song car classified as

a) Seasonal songs
b) Rituals Songs
c) Lifestyle songs
d) Dance song
e) Youth songs

He also sub categorized the folk songs according to the participation

a) Single singing songs
b) Double singing songs
c) Group singing songs

Different Academic qualified personnel, Folk Researcher, Folk Artist and other different researcher describe the folksongs or the traditional music of society in different way. This type of approach definitely helps in finding the hidden things of the particular region or the nation, this type of work in the field of folk songs helps in documentation and preservation of the vanishing tradition. Finally, my work in the field of folk songs of Nepal is not the ultimate; more research can be done in each and every part of folk songs, music. The culture and tradition of more than 5 dozens of ethnic groups are in danger, research on that field may preserve the verbal tradition and it will be the crucial work. There are sever works can be done in the field of folk songs or in the folk music of Nepal. The platform is so huge and a long history of cultural diversity.

Creation of New Ragas from Traditional Ragas & Murchhna System

Pandit Ishwarchandra Kedarnath

In order to familiarize and inculcate the classical music in the hearts and minds of the listeners, the creation on new Ragas is important. The traditional Ragas that are prevalent are entertaining and are beautiful. The beauty of the Ragas arises from the inherent beauty of the Swaras and the tradition that has been achieved since ages. But to keep the beauty of the tradition intact new innovations and creativity has to be brought in.

Often it is seen that when a musician tries to do something new regarding the traditional music, then he gets apprehensive about his experiment. He is afraid of the possibility of the listeners not liking his work. A lot of negative thoughts about the project come to his mind because of which he is not able to see his work through.

If a new Swaravali (Saptak) is created keeping in mind the ten Lakshans given in the Shashtras then listeners will obviously like it as it will maintain the inherent beauty of the Swaras. The parameter of a Raga being a success or failure is the acceptance that the listeners have for it. And even if the new creation is criticized, it still gives the creator an idea about the different areas where improvements can be made.

It is often said that "change is the only constant" and that holds true for the field of music too. The creation of new Ragas is the need of the time and demand of the listeners. And if a musician creates a new Swarakriti and is successful in bringing it in use, then he should continue such experiments and give birth to a musical creation which till now has never been into existence.

Now let's think about how we can create new Ragas. It can be done in two ways:

1 In this process a little bit of editing is done in the traditional Ragas and a new Saptak can be achieved . prevalent Ragas like Yaman, Bhairavi, Kafi etc have been heard by listeners since a very long time now and they are used to them. These ragas are entrenched in the minds of the listeners completely. If a new Saptak is created by causing variations in these Ragas they would be better accepted by the listeners who would be able to relate to the new creation.

For example : If we omit Dhiavat Swara in Raga Yaman ,we will get "Ni Re Ga Ma(Tivra) Pa Ni Sa". In this way we get a Shadav Raga. "Ni Re Ga Ma(Tivra)" is a Note Combination of Raga Yaman, and Listeners are Habitual

Dean & Head, Faculty of Performing Arts, The M.S. University of Baroda,

to hear Raga Yaman & "Pa Ni Sa" is used in Raga Shankra, Bihag & others. Here also audience is Habitual to hear the same. This means that by changing some notes in main Ragas we get a new Saptak, that can be appreciated by well versed audience. The creator can also give the name of Ragas as his desire. This experiment can be done in other traditional Ragas like Kafi, Bharvi, Malkauns, Hindol etc.

According to me, new Ragas must have been created by changing some Notes in fundamental Ragas. The new Ragas created, if used widely and frequently among the audience then Rasa, Bhaav and Beauty would be added to it and the listeners would eventually get used to them. And with the passing time the newly created Ragas will reside in the minds of the listeners. Further the question arises that in which That newly created Ragas can be kept(For Authenticity of shashtra). For this, creator will take decision according to the Swar-Bhed (Shuddha -Vikrit) and can keep in a particular That. If ragas Can't be kept in particular Thata such Ragas can be kept in Ragang-System, which is already in practice.

2 There is also another way to create the new ragas. A Sampurna Raga consists of six another Ragas in moorchhit avasthas. Shadav raga consists of five another Ragas in moorchhit avasthas and Audav Ragas consists of four another Ragas in moorchhit avastha. The ragas that are present in moorchhit avastha may be popular and some may be new.

For example: If in raga hansadhwani, "Re" is considered to be "Sa" then from Rishabh to Rishabh (Saptak) we get Raga Gorkh Kalyan according to the Murchhna sustem. Similarly Ghandhar to Ghandhar the Saptak obtained is "Sa Ga Pa Dha Ni Sa(Ga Dha Ni Komal)""which I have named as 'Audav Bhairavi'. By pancham to pancham Raga 'Nag Swaravali' is obtained which is already popular in the musical society. and has swaras as "Sa Ga Ma Pa Dha Sa"(all Shuddha). and from Nishad to Nishad we will get a new saptak as "Sa Re Ga Ma Dha Sa(Re Ga Dha Komal)" which I have named as 'Shiv Bhairavi' dedicated to my Guruji.

We have only seen the moorchhna of Raga Hansadhwani till now. In the same way the moorchhna of all prevalent ragas can be carried out. If the Aaroha and Avroha of fundamental ragas are carried out then innumerable forms of new Ragas can be created. These new Ragas obtained by these methods can be of two types

1. Ragas with Swara Vaichitrya (Odd Combination of Notes)
   &
2. Ranjak Ragas (Melodious Combination of notes) .

Singing and listening to new Ragas defines if a Raga is Ranjak or not. If listeners consider new Ragas to be interesting then these new Ragas should definitely achieve an important place in the scenario of Hindustani classical music. This kind of experiment will definitely be a success and beneficial for Sadhakas and well versed audience.

संपादक
भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)
दरभंगा

प्रिय महोदय,
भैरवी के एक वर्ष (2 अंक) ...../-रूपए/तीन वर्ष (6 अंक) ...../-रूपए/पाँच वर्ष (10 अंक) ...../-रूपए/आजीवन ...../-रूपए का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे वार्षिक/तीन वर्ष के लिए/पाँच वर्ष/आजीवन के लिए ग्राहक बना लें और मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ।

(हाँ, अगर आप दिल्ली के बाहर का चेक हमें भेज रहे हैं तो कृपया बैंक कमीशन के 40/- रूपए उसमें अतिरिक्त जोड़ दें यानि चेक हमें 240/- रूपए का भेजें।)

यहाँ से काटिए

नाम .....
पता .....
.....
.....
.....
टेलीफोन नं. .....

चेक/ड्राफ्ट संपादक, भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका), दरभंगा के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते पर हमें भेजने की कृपा करें :

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अंक आप भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका) के नाम मनीऑर्डर भेजकर भी मंगा सकते हैं या फिर वी.पी.पी. से।

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड